अच्युतग्रन्थमालाया: (ख) विभागे नवमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदाशिवेन्द्रसरस्वतीविरचिता

सिद्धान्तकल्पवल्ली

[केसरवल्लीव्याख्यया भाषानुवादेन च सहिता]

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे नवमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदाशिवेन्द्रसरस्वतीविरचिता

सिद्धान्तकल्पवल्ली

ग्रन्थकर्तृविरचितया केसरवल्ल्याख्यया संस्कृतव्याख्यया

महामहोपाध्यायपण्डितप्रवरश्रीहाथीभाईशास्त्रिविरचितेन भाषानुवादेन च

समेता

श्रीजो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयभूतपूर्वाध्यक्षेण पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा

अच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा च

सम्पादिता

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी।

संवत्

प्रथमावृत्तिः १०००] १९९७ [मूल्यम्—अष्टावाणकाः ॥)

❀ श्रीः ❀

भूमिका

इस जगज्जालमें बुरी तरह उलझे हुए सभी प्राणियोंकी एक ही इच्छा है, वह यह कि हमें परम सुखकी प्राप्ति हो और हो दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति। किन्तु ऐसी इच्छाके सदा जागरूक रहनेपर भी वे अभिलषितपरमसुखप्राप्तिका उपाय न जाननेके कारण सुखसाधन समझ कर जिस किसी दुःखदायक कर्ममें निरत हो जाते हैं और लगातार भवसागरमें गोते खाते रहते हैं। उन्हींके उद्धारके लिए भगवती श्रुतिने अधिकारानुरूप कर्म, उपासना और ज्ञानका निर्देश किया है। यह तो निर्विवाद ही है कि परम-सुखकी प्राप्तिका मुख्य साधन जीव-ब्रह्मैक्यज्ञान ही है। उक्त ज्ञानके साक्षात् साधन हैं उपनिषद। पर उनका अर्थ अति गम्भीर है, सहजमें उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। उनके अर्थके निर्णयके लिए महर्षि श्रीबादरायणने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की। कालक्रमसे उनके अध्ययनाध्यापन-परम्पराके उच्छिन्न हो जानेसे सूत्रोंके अर्थज्ञानमें कठिनाई आने लगी और अनेक विरोध प्रतीत होने लगे। उक्त कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने सूत्रोंके ऊपर याथार्थ्यके प्रतिपादक प्रसन्न गम्भीर शारीरकभाष्यकी रचना की। उक्त भाष्यका अवलम्बन कर जीवब्रह्मैक्यका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वेदान्तग्रन्थोंकी रचना हुई। मुख्य विषयमें सबका ऐकमत्य होनेपर भी अवान्तर विषयोंमें मतभेद होनेसे अद्वैतवेदान्तमें अनेक वादोंकी सृष्टि हुई। विश्वविश्रुतवैदुष्य स्वनामधन्य श्रीमदप्पयदीक्षितने 'वेदान्तसिद्धान्तलेश-संग्रह'में उन वेदान्तसिद्धान्तरत्नोंका बड़े विस्तारके साथ गुम्फन किया। प्रस्तुत सिद्धान्तकल्पवल्लीमें योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीने उन्हीं सिद्धान्तोंका संक्षेपमें २१४ आर्याओं द्वारा सुसरल और हृदयंगम रीतिसे प्रतिपादन किया है।

श्रीपरमशिवेन्द्रसरस्वतीके शिष्य * योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वतीकी

---

* निरवधिसंसृतिनीरधिनिपतितजनतारणस्फुरन्नौकाम्।
परमतभेदघुटिकां परमशिवेन्द्रार्यपादुकां नौमि॥ (आत्मविद्याविलास २)
जडः क्वाऽहं बालः क्व च गहनवेदान्तसरणि-
स्तथाप्याम्नायार्थं परमशिवयोगीन्द्रकृपया॥
(ब्रह्मसूत्रवृत्तिकी समाप्तिका पद्य)

कृति कल्पवल्लीतुल्य प्रस्तुत सिद्धान्तकल्पवल्लीको संस्कृतटीका तथा भाषानुवादके साथ अद्वैतवेदान्तदर्शन-प्रेमी जनताके सन्मुख उपस्थित करते हमें परम आह्लाद हो रहा है।

महामहिमशाली योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीने अपने जन्मसे कब किस प्रान्तको धन्य बनाया, उनके पुण्यमय अद्भुत चरित कैसे थे और उन्होंने कौन कौन ग्रन्थ रचे ऐसी जिज्ञासा होना सर्वसाधारण है। उसकी निवृत्तिके लिए संक्षेपमें ग्रन्थकारके पुण्यमय जीवनचरित, जीवनकाल और ग्रन्थोंके विषयमें कुछ निवेदन कर देना अनुचित न होगा।

चराचरगुरु करुणासिन्धु आनन्दकन्द भगवान्की आज्ञासे इस पृथिवी-तलमें अज्ञानतिमिरान्ध लोगोंके हृदयमें विद्यमान अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारकी ज्ञानोपदेश द्वारा निवृत्ति करनेके लिए यदा कदा पुण्यमयचरित, सदाचारनिरत, परमेश्वरके अंशभूत विदितवेदितव्य अनेक महात्मा मनुष्यरूपसे अवतीर्ण होते हैं। उन महात्माओंमें हमारे चरितनायक प्रातःस्मरणीय दिगन्तविश्रान्तकीर्ति योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीका प्रथम स्थान है। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व योगिराज सदाशिवेन्द्रसरस्वतीने अपने जन्मसे चोल प्रान्तको अलङ्कृत किया था। वर्तमान करूर नगरके निकट उनका निवासस्थान था। योगिराजके आश्चर्यपूर्ण चरितोंको कौन नहीं जानता, आज भी दक्षिण भारतमें उनकी चरित-चर्चा प्रतिदिन सज्जनोंकी रसनामें नाचती है। आस्तिक लोगोंपर असीम अनुग्रह करनेवाले श्रीशृङ्गेरीमठाधिपति श्रीशिवाभिनवसरस्वतीजी द्वारा स्तुतिरूपसे वर्णित उनके विशद आश्चर्यमय चरितोंका घर घर गान होता है।

योगिराज सदाशिवेन्द्र बाल्यावस्थामें ही सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात हो गये थे, अतएव गुरुजनोंकी इनके ऊपर प्रचुर कृपा रहती थी। इनका अध्ययन स्थान तिरुविशनल्लूर था। उस समय तिरुविशनल्लूर उस प्रान्तका विद्याकेन्द्र था। अनेक बड़े बड़े दिग्गज विद्वान् विद्याग्रहणमें अत्यन्त निपुण सैकड़ों छात्रोंको विद्यादान करते थे।

श्रीयोगिराज सदाशिवेन्द्रसरस्वतीके सहाध्यायी छात्रोंमें प्रख्यातनामा रामभद्र दीक्षित अन्यतम थे। उन्होंने जानकीपरिणयनामक नाटकका असाधारण कौशलसे निर्माण कर दाक्षिणात्य कवियोंमें नाटक-निर्माणकी निपुणता नहीं है, इस अकीर्त्तिको धो डाला। उनके दूसरे सहाध्यायी थे वेङ्कटेश। उनका दिव्य प्रभाव बाल्यावस्थामें ही सबपर विदित हो गया था। उन्होंने बाल्या-

वस्थामें ही आख्यायिकाषष्टि, दयाशतक आदि ग्रन्थोंका निर्माण किया था और लोकोत्तर वाक्पटुतासे आत्मतत्त्वका एवं अपने पावनतम चरितसे धर्मतत्त्वका उपदेश देते हुए परम प्रख्याति प्राप्त कर ली थी। जिन्हें आज भी आस्तिक लोग 'अय्यावाल' उपाधिसे विभूषित कर भक्ति और गौरवके साथ परमाचार्योंमें स्थान देते हैं। तीसरे साथी थे—गोपालकृष्णशास्त्री। वे भी बुद्धिमत्तामें इनसे कुछ कम न थे। उन्होंने महाभाष्यपर बड़ी उत्तम टीका लिखी थी। उनकी ब्रह्मनिष्ठा, वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान, ब्रह्मवर्चस, शम, दम आदि गुणगणोंसे मुग्ध होकर पड्डुकोटा राज्यके नृपति टोण्डामन उनकी शिष्यता प्राप्त कर साम्राज्य-लाभसे भी अधिक प्रसन्न हुए थे।

ईश्वरके अंशभूत ये चारों महापुरुष आत्मतत्त्वके उपदेश द्वारा जगत्‌की दुःख-निवृत्तिके लिए भूमण्डलमें अवतीर्ण हुए थे। इन महात्माओंके अमृतमय सदुप-देशसे सैकड़ों शिष्य सहजमें दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर देहाभिमान, वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा तथा सांसारिक दुःखदावानलसे विमुक्त होकर परमानन्दसमुद्रमें निमग्न हो गये।

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि हमारे चरितनायक श्रीसदाशिवेन्द्रको बाल्यावस्थामें ही अनुपम पाण्डित्य प्राप्त हो गया था। उनके साथ शास्त्रचर्चामें बड़े बड़े आचार्य तक दंग रह जाते थे। उनका विवाह बाल्यावस्थामें ही हो गया था। परिश्रमपूर्वक विद्योपार्जनमें ही बाल्यावस्था बीत चुकी थी। एक समयकी बात है कि भार्याके ऋतुमती होनेका समाचार भेजकर घरके लोगोंने उन्हें बुला भेजा। माताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर वे घरके लिए रवाना हुए। ऋतुस्नानके दिन वे घर पहुँचे। ब्राह्मणोंको भोजन आदि करानेमें व्यग्र माताने बड़े स्नेहसे उनका अभिनन्दन किया। घरके सभी लोग उत्सवकी चहल-पहलसे आनन्दित थे। स्त्रियाँ मङ्गलमय गीत गानेमें लीन थीं। घर और आँगन ब्राह्मणोंके आशीर्वादकी ध्वनिसे गूँज रहे थे। सदाशिवेन्द्रका भोजनकाल बीत चुका था, भूख और प्यास उन्हें सता रही थी। उस समय उनके मनमें सूक्ष्मरूपसे यह विचारधारा उठी कि ब्रह्मवेत्ता लोग सच कहते हैं कि विवाह अनन्त दुःखोंका घर है। इस समय यह बुभुक्षाजनित दुःख यद्यपि नगण्य-सा है फिर भी यह मेरे भावी अनेक दुःखोंकी परम्पराको सूचित-सा कर रहा है। उन्हें रह रह कर रात्रि-दिन वह विचारधारा उद्विग्न करने लगी। अन्ततोगत्वा उसने गार्हस्थ्यके प्रति उनकी द्वेषबुद्धिको दृढ़कर उनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न

कर दिया। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जभी वैराग्य हो तभी संन्यास ले ले) इस न्यायसे शीघ्र ही गृहाभिमानका त्यागकर घरसे निकलकर योगविद्या-में पारङ्गत आचार्यको खोजते हुए वे कावेरी नदीके तटवर्ती पुण्यक्षेत्रोंमें बहुत दिनों तक घूमते रहे। संसारसागरमें डूबे हुए विविध दुःखोंसे पीडित असंख्य प्राणियोंके लिए इनके हृदयमें बड़ी तीव्र दया उत्पन्न हो चुकी थी। उन लोगोंके शारीरिक और मानसिक कष्ट, जरा, मरण आदि क्लेशरूप उपद्रवोंको देखकर उनके नेत्रोंसे बार-बार अश्रुधाराएँ उमड़ पड़ती थीं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबपर दयार्द्र समदृष्टि रखते और जो भी जो कुछ भोजन दे जाता, उससे अपनी देहयात्रा कर लेते थे। सूखे पत्तों और गलियोंमें फेंके उच्छिष्ट अन्न तकको रुचिपूर्वक ग्रहणकर सुखसे विचरते थे। योगिराज महात्मा सदाशिवेन्द्रको योगी और महात्मा न जानकर साधारण लोग 'यह उन्मत्त है, मूढ़ है' यों उनका उपहास किया करते थे।

इस प्रकार आचार्यकी खोजमें घूम रहे सदाशिवेन्द्रकी कहीं परमशिवेन्द्र नामक योगिराज आचार्यसे भेंट हो गई। योगिराज परमशिवेन्द्रने उनका वास्तविक रूप जानकर बड़े प्रेमसे उन्हें योगविद्याका रहस्य सिखलाया। ऐसी किंवदन्ती है कि जब वे योगशिक्षा पा रहे थे, उसी समय उनके मुखकमलसे ब्रह्मज्ञानरूपी सुधारससे सराबोर गान धारावाहिकरूपसे निकलते थे। यम, नियम और ध्यानके अभ्याससे अन्तःकरणको अपने वशमें कर योगियों द्वारा उपदिष्ट योगमार्गमें असाधारण कौशलसे चल रहे योगिराज सदाशिवेन्द्र योगविचारसे हृदयकमलको विकसित कर सिद्ध हो गये। परमज्योतिका साक्षात्कार कर वाणी और मनके अगोचर आनन्दका अनुभव करने लगे। यों उनको अतीत अनेक वर्ष क्षणकी तरह बीतते हुए ज्ञात नहीं हुए।

गुरुके उपदेश और प्राक्तन संस्कारसे योगविद्यामें भली भांति निष्णात होकर परमानन्दसन्दोहपूर्ण वे श्रेष्ठतम संन्यासी हो गये। परमात्माके साक्षात्कार-से परम आनन्दको प्राप्त अन्य लोगों द्वारा की गई प्रशंसा और निन्दा आदिसे विमुख एवं परमब्रह्मनिष्ठ परमहंसोंकी विभूतिको प्राप्त करनेके इच्छुक सदाशिवेन्द्रसरस्वतीने अपनी वैसी मानसिक वृत्ति आत्मविद्या-विलास नामक काव्यमें ६२ आर्याओं द्वारा विशदरूपसे दर्शाई है।

जब सदाशिवेन्द्र योगी योगविद्यागुरु परमशिवेन्द्रसरस्वतीके निकट रहते थे, तब गुरुवरके दर्शनके लिए आये हुए पण्डितोंको वे सैकड़ों प्रश्नों द्वारा

मोहित कर लज्जित कर डालते थे। पण्डित लोग उनके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सकते थे। पण्डितोंके लिए वह परिभव असह्य हो जाता था। उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया कि यह सदाशिवेन्द्र बड़ा दुर्विनीत है। हम लोगोंसे अनेक प्रश्न कर हमें लज्जित करता रहता है। इससे परमशिवेन्द्रसरस्वतीको कुछ खेद हुआ। उन्होंने कहा—सदाशिव, तुम्हारी इस दुर्निरोध वाणीका संयम कब होगा? तुरन्त अपने अपराधको जानकर शिष्य सदाशिव अपनी जिह्वाके निरोधके लिए तत्पर हो गये और मरणपर्यन्त मौनी रहनेका निश्चय कर उन्होंने आचार्यको दण्डवत् प्रणाम कर अपराधके लिए क्षमा मांगी। तदुपरान्त आचार्यसे अनुज्ञा पाकर और मौनी योगी बनकर काम, क्रोध आदि शत्रुओंपर विजय पानेके लिए वे चल दिये। वृक्षके नीचे बसेरा लेते तथा हथेलीमें भोजन करते हुए सुखपूर्वक समययापन करने लगे।

किसी समयकी बात है कि देहाभिमानशून्य और शीत-घामके खेदको नगण्य समझनेवाले योगिराज खेतकी मेड़पर सो रहे थे। संयमीन्द्रको मेड़पर सिर रखकर सोया देखकर कुछ कृषकोंने कहा—अहो सम्पूर्ण विषयोंमें आसक्तिका त्याग करके भी ये योगिराज कुछ ऊँची खेतकी मेड़को तकिया बनाये हुए हैं, यों कहते हुए वे कहीं चले गये। दूसरे दिन जब वे उसी मार्गसे लौटे, तो तकियेके बिना ही खेतमें सिर रखकर सो रहे सदाशिवेन्द्रको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। 'ये योगिराज सम्पूर्ण विषयोंमें आसक्तिका त्याग कर भी हम सरीखे पामरों द्वारा की गई प्रशंसा तथा निन्दासे पराङ्मुख नहीं हैं' यह कहते हुए वे अपने अपने घर चले गये।

यह समाचार परम्परासे श्रीवेङ्कटेशके कानोंतक पहुँचा। किंवदन्ती है कि उन्होंने भी भली भाँति विचार कर श्रेष्ठ संयमियोंका भी प्रकृतिसे सम्बन्ध दुर्निवार है,

तृणतुलिताखिलजगतां करतलकलिताखिलरहस्यानाम्।
श्लाघावारवधूटीघटदासत्वं सुदुर्निरसम् * ॥

यों शोक किया।

इस प्रकारकी अपनी न्यूनताको, जो बुद्धिकी परिपक्वताकी विनाशिनी थी, क्रमशः दूर कर सदाशिवेन्द्रसरस्वती योगविद्याकी चरम सीमाको प्राप्त हो गये।

---

* जिन महात्माओंने सम्पूर्ण जगत्को तृण समझ रक्खा है और जिनकी हथेलीमें सम्पूर्ण रहस्य विद्यमान है, उनकी भी प्रशंसारूपी वेश्याकी दासता नहीं छूटती है अर्थात् वे भी प्रशंसाकी आकाङ्क्षा करते हैं।

अमरावती और कावेरी नामक दिव्य नदियोंके निकटवर्ती वनप्रदेशोंमें रहते हुए उन नदियोंके तटोंपर वाङ्मनसागोचर परमब्रह्मका ध्यान करते हुए सुखपूर्वक दिन बिताने लगे। शून्यचित्त हो जड़की नाईं, बहिरेकी नाईं, अन्धेकी नाईं, भूताविष्टकी नाईं परमात्मामें हृदय लगाकर इधर उधर घूमते थे, अतः उन्हें लोग पागल समझते थे। अपने शिष्यकी ऐसी दशा सुनकर अपने हृदयका वैसा परिपाक न देखकर परमशिवेन्द्रयोगीको खेद हुआ, ऐसा निम्ननिर्दिष्ट पदसे प्रतीत होता है—

उन्मत्तवत्सञ्चरतीह शिष्य-
स्तवेति लोकस्य वचांसि शृण्वन् ।
खिद्यन्नुवाचाऽस्य गुरुः पुराऽहो
ह्युन्मत्तता मे नहि तादृशीति * ॥

सदाशिवेन्द्र देहाभिमानरहित वर्षा, घाम आदि खेदको कुछ न गिनकर केवल आत्माराम और समाधिस्थित रहते थे। कभी वनोंमें प्रविष्ट होकर बहुत दिनों तक किसीके दृष्टिगोचर नहीं होते थे और कभी कावेरी तटपर शिलाकी नाईं निश्चल होकर समाधि करते थे। एक समयकी घटना है कि सदाशिव योगीन्द्र कोडुमुडी नगरके समीप कावेरी नदीके बालूपर समाधिस्थ थे, सहसा ऐसी बाढ़ आई कि उसने बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ कर फेंक दिया। वह नावोंको कभी आकाशमें उछालती और कभी नदीके निम्नस्तरमें पटक देती थी। नगर और गांवोंको उसने जलमग्न कर दिया था। वह प्रलयकारिणी बाढ़ योगिराजको दूर बहा ले गई। वह जलभ्रमियोंमें कभी तिनकेके समान उन्हें घुमाती थी एवं कभी नीचे नदीके तीरमें बालूमें पटक देती थी। इस प्रकार बाढ़ द्वारा बहाये जा रहे योगिराजकी रक्षा करनेमें असमर्थ तटवर्ती लोग अहो योगिराजके ऊपर यह बड़ी आपत्ति आ पड़ी, क्या करें! यह प्रलयकालकी-सी बाढ़ महा अनुचित कर रही है। इस बाढ़में पड़कर बचना कठिन है, यों खेदपूर्वक कहते हुए अपने अपने घरोंको चले गये। तीन महीनेके बाद जब कि कावेरी क्रमशः शान्त हो चुकी थी, उसके तटोंमें बालू ही बालू दिखाई देने लगा था और उसका जल वेणीकी नाईं सूक्ष्म हो गया था। ग्रामीण लोग स्नान आदिकी सुविधाके लिए नदीके मध्यमें बड़े-बड़े गड्हे खोदने लगे। किसी एक ग्रामीणके

---

* आपके शिष्य उन्मत्तकी नाईं घूमते हैं, ऐसे लोगोंके वचन सुनकर उनके गुरु परमशिवेन्द्रसरस्वतीने 'ऐसी उन्मत्तता मुझे नहीं हुई' यह खेदपूर्वक कहा।

खोदनेपर कोई एक कठिन वस्तु कुदारीसे लगी। शीघ्र ही कुदारीको बाहर निकालनेपर उसमें रक्त लगा हुआ देखकर वह व्याकुल हुआ। इस आश्चर्यपूर्ण घटनाको देखकर सभी लोग चारों ओरसे हलके हाथसे खोदकर बालूको निकाल कर क्या देखते हैं कि समाधिस्थित सदाशिवेन्द्रसरस्वती प्रसुप्तकी नाईं बालूके मध्यमें सोये हुए हैं। उन्हें वैसा देखकर वे सबके सब आश्चर्यनिमग्न हो गये। इस योगिराजका प्रभाव अचिन्तनीय है, यों कहते हुए उन्होंने उनके शरीरको बालूसे बाहर निकाला। निकालते ही उनकी समाधि टूट गई। वे सोकर जागे हुए की नाईं नेत्रोंको खोलकर उस स्थानसे उठकर अपने इच्छानुसार कहीं चले गये।

एक समयकी घटना है कि करूरनगरके पासके गांवमें खूब पके हुए धानोंको काटकर उनका एक स्थानमें ढेर लगाकर रात्रिमें उनकी रक्षाके लिए भृत्योंको नियुक्तकर क्षेत्रस्वामी अपने घर चला गया। उसके चले जानेपर रक्षक सावधानीसे धानके ढेरकी रक्षा करने लगे। कृष्ण पक्षकी रात्रिमें, जब कि कोई भी वस्तु नहीं दिखाई देती थी, सदाशिव अपने इच्छानुसार कहींसे आ रहे थे और उसी धानके ढेरसे टकराकर गिर पड़े। दूसरी ओर पहरा दे रहे भृत्योंने समझा कि यह चोर है और वे बड़े-बड़े डंडे लेकर उन्हें मारनेके लिए दौड़े और धानोंके ढेरमें सुखसे सोये हुए सदाशिवेन्द्रको पीटनेके लिए उद्यत हो गये। उन्होंने उन्हें मारनेके लिए जैसे लट्ठे उठाये योगीन्द्रके अलौकिक प्रभावसे वे वैसेके वैसे उठाये रह गये। वे रातभर यों ही स्तम्भित रहे। प्रातःकाल क्षेत्रका स्वामी आया। वह अपने भृत्योंकी दशाको देखकर आश्चर्ययुक्त होकर उनसे बोला—यह क्या बात है? उन्होंने कहा—स्वामिन्, हम लोग क्रोधसे इस महात्माको अज्ञानपूर्वक मारनेके लिए प्रवृत्त हुए। उसीका यह फल है। अब क्या करें? कैसे स्वस्थ हों? उन लोगोंकी परस्पर बातचीतसे योगीन्द्रकी समाधि टूट गई। वे आँखें खोलकर उस स्थानसे उठकर धीरे-धीरे जहांसे आये थे, चले गये। उनके चले जानेपर सब भृत्य स्वस्थ हो गये। उन्होंने योगि-राजकी अपारकरुणाशालिता और अचिन्तनीय महिमाकी भूरिभूरि प्रशंसा की।

एक समयकी बात है कि परमात्मनिष्ठ योगिराज कहीं जंगलमें घूम रहे थे। उन्हें राजाधिकारीके लिए लकड़ियां इकट्ठा कर रहे सेवकोंने देखा। उन लोगोंने यह सोचकर कि यह हृष्ट पुष्ट अतः बोझा ढोने योग्य है, जबरदस्ती उन्हें पकड़ा और उनके सिरपर एक बड़ा बोझा रख दिया एवं अपने ही साथ उन्हें गांवमें ले गये। राजाधिकारीके आंगनमें पहलेसे इकट्ठा की गई लक-

ड़ियोंका बड़ा भारी ढेर था। उस ढेरमें योगिराजने ज्योंही अपना बोझ फेंका तुरन्त उसमें तेज आग लग गई, एक क्षणमें राजाधिकारीका घर भस्म हो गया। इस आश्चर्यमय घटनाको देखकर सेवक अत्यन्त दुःखी हुए। महात्माके साथ उन्होंने जो दुर्व्यवहार किया था, उसका उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

पामर लोग अणिमा आदि ऐश्वर्यसे युक्त इन सिद्ध महापुरुषको सिद्ध न जानकर 'यह उन्मत्त है' ऐसा कहते थे। निपट बालक गलियोंमें शून्य हृदयके समान घूम रहे योगिराजको घेर कर कोई उनके केश, कोई हाथ, कोई पैरके अँगूठेको खींचकर अपना मनोविनोद करते थे। योगिराज भी उन बालकोंपर अतिशय प्रीति दर्शाते हुए अन्य द्वारा दिये गये भक्ष्य देकर उन्हें प्रसन्न रखते थे। एक दिन बालकोंने उन्हें घेर कर कहा—महाराज, सुनते हैं कि आज मदुरामें सुन्दरनाथका शृङ्गार होनेवाला है। आप हमें महेश्वरके दर्शन करानेके लिए वहां ले चलिए। यद्यपि वे लोग इस कार्यको असाध्य समझते थे, फिर भी मजाक करनेमें चूकते न थे। उनके वचन सुनकर सदाशिवने उनको सिर तथा दोनों कन्धोंपर चढ़ाकर उनसे एक क्षणके लिए आँखें बन्द करनेके लिए कहा, उन्होंने वैसा ही किया। क्षणभरमें जैसे ही उन्होंने आँखें खोलीं, अपनेको सदाशिवके साथ मदुराके चौकमें पाया और भक्त-मण्डलीसे परिवेष्टित वृषभकी पीठपर विराजमान सुन्दरनाथके दर्शन किये। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे यह स्वप्न है या माया है या हमारे चित्तका विभ्रम है, यों परस्पर कानाफूसी करने लगे। योगिराज सदाशिवेन्द्रने भी उन बालकोंको अभीष्ट भोजन आदि देकर खूब आनन्दित किया। यह क्या हुआ, इस प्रकार अत्यन्त आश्चर्य-सागरमें डूबकर महोत्सवदर्शनजनित आनन्दसे परिपूर्ण हो उन्हें बीती हुई रात्रिका ज्ञान नहीं हुआ। उत्सवके समाप्त होनेपर सदाशिवेन्द्रने पहलेकी नाईं उन्हें अपने अपने स्थानमें पहुँचा दिया। बालकोंने इस आश्चर्यमय घटनाको अपनी अपनी माताओंसे कहा, भोजनसे बचा हुआ प्रसाद भी दिखलाया और वृषभोत्सवको जिस भाँति उन्होंने देखा था, उसी प्रकार उसका वर्णन किया। यह भी किंवदन्ती है कि महाशिवरात्रि आदि महोत्सवोंमें, काशी, मदुरा, रामेश्वर आदि दिव्य क्षेत्रोंमें एक ही रात्रिमें तत्-तत देशोंमें रहनेवालोंने उन्हें देखा था।

किसी ब्रह्मचारीने, जिसको अक्षरपरिज्ञान भी न था, योगिराज सदाशि-वेन्द्रकी भक्तिपूर्ण अन्तःकरणसे सेवा की। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर

सदाशिवेन्द्रने दयापूर्ण दृष्टिसे बार बार उसे देखते हुए उसपर अनुग्रह किया। एक समय उस ब्रह्मचारीको रङ्गनाथजीकी सेवाकी अभिलाषा हुई। उसने अपनी इच्छा योगिराजपर प्रगट की। मौनी सदाशिवेन्द्रने इशारेसे उससे कहा—क्षण भरके लिए आंखें बन्द करो। उसने आदेशानुसार वैसा ही किया। थोड़ी देरमें उसने आँखें खोलकर देखा तो अपनेको श्रीरङ्गनाथके सम्मुख पाया और पासमें श्रीसदाशिवेन्द्रको देखा। उसके पश्चात् कुछ ही क्षणोंमें योगिराज सदाशिव अन्तर्हित हो गये। उनके अदर्शनसे ब्रह्मचारीको बड़ा दुःख हुआ। उसने उनकी खोजमें समीपवर्ती झाड़ियां, देवालय आदि स्थान छान डाले, पर वे न मिले। फिर तो वह पैदल ही लम्बे मार्गको लाँघकर थोड़े ही दिनोंमें करूरमें आ पहुँचा। वहांपर समाधिस्थ योगिराजके दर्शन कर बड़े भक्ति-भावसे उनके चरणोंमें पड़कर उसने सारा वृत्तान्त कहा। सदाशिवेन्द्रको भी उसपर बड़ी दया आई। उन्होंने बालूमें अक्षर लिखकर उस ब्रह्मचारीको मन्त्रोपदेश दिया। तुरन्त ही उसके हृदयमें अङ्ग और रहस्यसहित सब वेद और सम्पूर्ण विद्याएँ आविर्भूत हो गईं। वह ब्रह्मचारी महापौराणिक विद्वान् हो गया। राजा-महाराज उसका बड़ा सम्मान करते थे और उसने पुराण-प्रवचन द्वारा अतुल सम्पत्ति उपार्जित की।

एक समयकी बात है कि देहाभिमानशून्य तथा परमानन्दमें निमग्न योगिराज घूमते-घूमते किसी यवनराजके अन्तःपुरमें चले गये। असूर्यंपश्या रानियोंके सामने अवधूतवेषसे इधर उधर घूम रहे उनको देखकर क्रोध-परिपूर्ण यवनराजने उनकी एक भुजा काट दी। सदाशिवेन्द्र भुजाका कटना न जानकर स्वस्थकी नाईं जैसे आये थे वैसे ही वहांसे अन्यत्र चले गये। उनकी वैसी मानसिक स्थिति देखकर यवनराजको बड़ा आश्चर्य हुआ। यह कोई योगी महात्मा है। मैंने इसका हाथ काट डाला, फिर भी यह प्रसन्नवदन होकर घूमता है। इसको प्रसन्न किये बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। मैं धनके मदसे मत्त हूँ तथा सदसदविवेकसे शून्य हूँ, यों अपनी निन्दा कर बड़े शोकके साथ योगिराजके पीछे हो लिया। बहुत दिनों तक शीत, आतप आदिसे उत्पन्न खेदको कुछ न गिन कर छायाकी नाईं अपने पीछे चल रहे उसको देख कर दयालु योगिराजने इशारेसे कहा—क्यों तुम मेरे पीछे चल रहे हो? उसने अपने महापराधके लिए क्षमा मांगी। उन्होंने इशारेसे पूछा—कैसा अपराध? उसने रोते हुए कहा—महाराज, मैंने आपकी एक भुजा काट दी है। उसके कथनके पश्चात्

उन्हें ज्ञान हुआ कि मेरी एक भुजा कटी हुई है। उन्होंने दूसरे हाथसे कटे हुए कन्धेको पोंछा। उनके छूनेसे शीघ्र ही पहलेकी नाईं दूसरी भुजा उसके स्थानमें उगती हुई देख कर यवनके भयका ठिकाना न रहा। उसने दण्डवत् प्रणाम कर उनकी कृपाकी प्रार्थना की। योगिराज भी उसके ऊपर अनुग्रह कर कहीं चले गये।

इस विचित्र घटनाका वर्णन शृङ्गेरीमठाधिपति श्रीशिवाभिनवनृसिंहभारती-जीने सदाशिवेन्द्रस्तुतिमें किया है—

"योऽनुत्पन्नविकारो बाहौ म्लेच्छेन छिन्नपतितेऽपि।
अविदितममतायाऽस्मै प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥
पुरा यवनकर्तनस्रवदमन्दरक्तोऽपि यः
पुनः पदसरोरुहप्रणतमेनमेनोनिधिम्।
कृपापरवशः पदं पतनवर्जितं प्रापयत्
सदाशिवयतीट् स मय्यनवधिं कृपां सिञ्चतु॥"

उसी स्तोत्रमें आगे उन्होंने कहा है—

'न्यपतन् सुमानि मूर्धनि येनोच्चरितेषु नामसूत्रस्य।
तस्मै सिद्धवराय प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥'

इन अद्भुत घटनाओं और आश्चर्यजनित चरितोंको योगविद्याके रहस्यको न जाननेवाले आधुनिक लोग मिथ्या स्तुति समझने लगे हैं। जिन्हें अध्यात्म-तत्त्वोंके विषयमें कुछ भी परिज्ञान नहीं है, उनका यह स्वभाव ही है। उनके विषयमें अधिक कहना व्यर्थ है।

सदाशिवेन्द्रजीके विषयमें और भी अनेक असाधारण किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं, विस्तारभयसे उनका उल्लेख न कर उनकी महिमाके लिए केवल इतना ही निवेदन कर देते हैं कि विशुद्धचरित, निर्मलचित्त, अन्योंको अति दुर्लभ अरिषड्वर्गपर विजय प्राप्त करने एवं अध्यात्मविद्यामें असाधारण निपुणतासे साक्षात् ईश्वरके अंशभूतकी नाईं विराजमान श्रीशृङ्गेरीमठके अधिपति परमहंस परिव्राजकाचार्य अभिनवनृसिंहभारतीकी योगिराज श्रीशिवेन्द्रसरस्वतीपर ईश्वरवत् असाधारण भक्ति थी, ऐसे महापुरुषोंकी अतुलित भक्तिके भाजन अद्भुतचरित योगिराजकी महामहिमशालिताके विषयमें किसीको भी संदेह नहीं करना चाहिए।

योगीन्द्र सदाशिवेन्द्र कब इस भूतलमें अवतीर्ण हुए? इस विषयमें निश्चित तिथिका पता लगना तो असम्भव है। हां, अन्य प्रमाणोंसे यह निश्चित है कि वे आजसे लगभग २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे। सुना जाता है कि विजय-रघुनाथ टोण्डामनको, जो सन् १७३० से १७६९ तक पडुकोट्टाह राज्यके शासक रहे, लगभग सन् १७३८ में पडुकोट्टाहके आसपास जंगलमें सहसा सदाशिवेन्द्र योगीन्द्रके दर्शन हुए थे। उक्त शासक बड़ा शिवभक्त और पुण्यात्मा था, अतः उसकी 'शिवज्ञानपूर्ण' नामसे प्रसिद्धि थी। उसने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ आठ वर्ष तक योगिराजकी सेवा की। उक्त राजाके विशुद्ध चरित्रसे योगिराज बड़े प्रसन्न हुए और बालूमें कुछ अक्षर लिखकर राजन्, तुम्हें यों व्यवहार करना चाहिए, इससे अतिरिक्त अन्य बातें तुम्हें गोपालकृष्णशास्त्री बतलावेंगे, यों इशारेसे उपदेश दिया। तदुपरान्त राजाको पता चला कि श्रीगोपालकृष्णशास्त्री कावेरी नदीके किनारे भिक्षाण्डार देशमें रहते हैं। राजाने बड़े समादरके साथ उन्हें सपरिवार अपने राज्यमें बुलाया और एक ग्राम देकर अपना कुलगुरु बना लिया। उनके वंशज अब भी राजगुरु कहलाते हैं।

उक्त पडुकोट्टाह राज्यमें आजकल भी प्रतिवर्ष शारदानवरात्रमहोत्सव, विद्वत्सत्कार और दक्षिणामूर्तिपूजन आदि सदाशिवेन्द्रसरस्वती द्वारा निर्दिष्ट रीतिके अनुसार बड़े धूमधामसे मनाये जाते हैं। जिस बालूमें सदाशिवेन्द्रने राजाके उपदेशार्थ अक्षर लिखे थे, वह भी सुरक्षितरूपसे पेटीमें रक्खी है। पूजनीय पदार्थोंमें उसका प्रधान स्थान है। इससे निश्चित है कि सदाशिवेन्द्र अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें या सत्रहवीं शताब्दीके शेष भागमें उत्पन्न हुए थे।

योगिराज सदाशिवेन्द्रसरस्वतीने प्रस्तुत 'केसरवल्लीयुक्त सिद्धान्तकल्पवल्ली' ग्रन्थके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना की थी—

ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिकानामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति—सदाशिवेन्द्रविरचित ग्रन्थोंमें यह सूत्रवृत्ति वेदान्तजिज्ञासुओंके लिए प्रथमसोपानरूप एवं परमोपयोगिनी है। ब्रह्मसूत्रपर अनेक वृत्तियां हैं, पर इसकी सर्वश्रेष्ठता निर्विवाद है। इसमें संक्षेपतः पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका निरूपण, सूत्रसंगति, अधिकरणसंगति, पादसंगति आदि उपयोगी विषय बड़ी हृदयंगम रीतिसे निरूपित हैं। यह भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके भाष्यके गूढ़ अर्थको प्रकट करती है, इसमें सन्देह नहीं है।

योगसुधाकरनामक योगसूत्रवृत्ति—योगिराजने योगाभ्यासमें निरत लोगोंके उपकारार्थ योगसूत्रोंपर अतिमनोहर वृत्तिका निर्माण कर ध्रुव, कूर्म आदि नाडियोंका ज्ञान, समाधिका स्वरूप और यम-नियम आदिके अभ्याससे अन्तःकरणके निग्रहकी रीतिका विशद प्रतिपादन कर आरुरुक्षुओंपर महती कृपा की है।

आत्मविद्याविलास—इसमें परमात्मसाक्षात्कारसे आनन्दसागर में निमग्न परमहंसोंकी विभूतिको प्राप्त करनेकी इच्छावाले योगिराजने अपनी आध्यात्मिक मानस वृत्तिका बासठ (६२) आर्याओं द्वारा वर्णन किया है।

सुननेमें आता है कि योगिराजने इनसे अतिरिक्त बारह उपनिषदोंपर दीपिका टीकाकी भी रचना की है। पर वह अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई है।

कुछ लोग अद्वैतरसमञ्जरीको भी इन्हींकी कृति मानते हैं, पर यह कथन प्रामादिक ही प्रतीत होता है। अद्वैतरसमञ्जरीके अन्तमें स्पष्ट ही लिखा है कि—

'नल्लासुधीनिबद्धेयमद्वैतरसमञ्जरी।
अन्तर्मुखैर्विपश्चिभिरादरेणाऽनुगृह्यताम् ॥'

इससे निश्चित है कि उसके रचयिता नल्लाकवि थे। अद्वैतरसमञ्जरीपर ग्रन्थकारने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। उसके आदिमें श्रीगणेशजीकी वन्दना कर वे लिखते हैं—

'भुवनाद्भुतानुभावं परमशिवेन्द्राभिधं भजामि गुरुम्।
यदपाङ्गव्यापारः पुंसां संसारतारको भवति ॥'

इस पद्यसे अपने गुरु परमशिवेन्द्रसरस्वतीको प्रणाम कर निम्न पद्यसे उन्होंने सदाशिवेन्द्रसरस्वतीकी भी वन्दना की है—

वेदान्तसूत्रवृत्तिप्रणयनसुव्यक्तनैजपाण्डित्यम्।
वन्देऽवधूतमार्गप्रवर्तकं श्रीसदाशिवब्रह्म ॥

इससे निश्चित है कि अद्वैतरसमञ्जरीकार परमशिवेन्द्रसरस्वतीके शिष्य थे। गुरुके सर्वप्रधान शिष्य ब्रह्मनिष्ठ श्रीसदाशिवेन्द्रपर भी उनकी असाधारण भक्ति रही, इसीलिए ग्रन्थकी समाप्तिमें 'श्रीसदाशिवेन्द्रपूज्यपादानुग्रहभाजनस्य नल्लाकवेः कृतिषु स्वकृताद्वैतरसमञ्जरीव्याख्या परिमलाख्या सम्पूर्णा' लिखा है।

इस ग्रन्थका भाषानुवाद स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्री हाथीभाई शास्त्रीजीके करकमलोंसे सम्पन्न हुआ है। हमें इस बातका हार्दिक खेद है कि शास्त्रीजी इसके प्रकाशनके पूर्व ही भौतिक नश्वर देहका परित्याग कर कीर्तिशेष हो गये।

इस ग्रन्थका प्रथम संस्करण केसरवल्लीनामक संस्कृत टीकाके साथ ३० वर्ष पूर्व वाणीविलास प्रेस श्रीरङ्गम्से प्रकाशित हुआ था, जो अब दुष्प्राप्य है। हमें आशा है कि ऐसे महापुरुषकी लेखनीसे प्रसूत संस्कृतटीका तथा हिन्दी-भाषानुवादसे विभूषित इस उत्तम ग्रन्थका वेदान्तप्रेमी जनतामें अवश्य समादर होगा। अलं पल्लवितेनेति शम्।

काशी
विजयादशमी
१९९७

विनीत
श्रीकृष्णपन्त
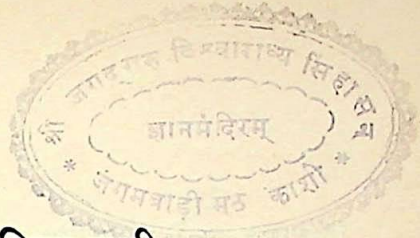
सिद्धान्तकल्पवल्लीकी विषय-सूची

प्रथम स्तबक [१ – ५८]

द्वितीय स्तबक [५९ – ८४]

तृतीय स्तबक [८५ – १००]

चतुर्थ स्तबक [१०१ – १०९]

---

* श्रीगणेशाय नमः *

सिद्धान्तकल्पवल्ली

[भाषानुवादसहिता]

अङ्कुरितबोधमुद्रिकमपसव्योरूपरिस्थसव्यपदम् ।
वस्त्वेकमनुसरामो वटभूरुहमूलवास्तव्यम् ॥ १ ॥

~~~~~~~~~~~~~~

स्वाज्ञानेन विवर्तितत्रिभुवनाकारेण यः सर्वतः
स्वस्मै यः स्वयमेव चोपदिशति स्वं शिष्यगुर्वात्मना ।
स्वज्ञानेन च योऽद्वितीयसुखमद्बोधात्मना शिष्यते
तस्मै विस्मयनीयशक्तिनिधये कस्मैचिदस्मै नमः ॥

सिद्धान्तलेशसंग्रहाख्यग्रन्थे वर्णितानां मतानां सुखेनाऽवधारणार्थं चिकीर्षितस्य सिद्धान्तकल्पवल्ल्याख्यग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय कृतमिष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नाति—अङ्कुरितेति । अङ्कुरिता सञ्जाताङ्कुरा स्फुरन्ती बोधमुद्रिका यस्य तत्तथोक्तम्, अपसव्यस्य दक्षिणस्य ऊरोरुपरि तिष्ठतीति उपरिस्थं सव्यं वामं पदं पादः यस्य तत्तथोक्तम्, एतेन

स्वाश्रित अज्ञानसे त्रिभुवनके आकारमें विवर्तित होकर जो सम्पूर्ण संसारमें स्वयमेव गुरु, शिष्य आदि भावसे अपनेको ही अपने स्वरूपका उपदेश करते हैं और स्वज्ञानसे (स्वरूपानुभवसे) [अज्ञानके निवृत्त हो जानेपर] अद्वितीय सुख और बोधरूपसे अवशिष्ट रहते हैं, ऐसे किसी विस्मयजनक शक्तिके भण्डारको मैं नमस्कार करता हूँ ।

श्रीमान् अप्पय्यदीक्षितप्रणीत सिद्धान्तलेशसंग्रह नामक ग्रन्थमें जो जो मत वर्णित हैं, उन मतोंका सरलतासे ज्ञान होनेके लिए जिस सिद्धान्तकल्पवल्ली नामक लघु निबन्धके रचनेकी इच्छा है, उसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए किये गये इष्ट देवतानमस्काररूप मंगलाचरणको, शिष्योंको सिखानेके लिऐ, ग्रन्थारम्भमें लिखते हैं— 'अङ्कुरित०' इत्यादिसे ।

जिनकी बोधमुद्रा (चिन्मुद्रा) प्रकटित है और दाहिनी जंघाके ऊपर जिन्होंने
~~~~~~~~~~~~~~

वदनतदधोविभागव्यञ्जितमातङ्गमानवाभेदम् ।
मदनारिभागधेयं महिमानं वयमुपास्महे कमपि ॥ २ ॥

यदपाङ्गितः प्रबोधो भवदुःस्वप्नावसानकरः ।
तमहं परमशिवेन्द्रं वन्दे गुरुमखिलतन्त्रजीवातुम् ॥ ३ ॥

वीरासनासीनत्वमुक्तं भवति । वटभूरुहस्य वटवृक्षस्य मूले वसतीति वास्तव्यम् । 'वसेस्तव्यत्कर्तरि' इति कर्तरि तव्यत्प्रत्ययः । तदेकम् अव्यपदेश्यं श्रीदक्षिणामूर्तिरूपं वस्तु अनुसरामः—उपास्महे इत्यर्थः ॥ १ ॥

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति प्रसिद्धेः परमश्रेयःसाधनीभूते ग्रन्थे बहुतरविघ्नसंभावनया तन्निवर्तनसमर्थं श्रीविघ्नराजानुसंधानरूपं मङ्गलान्तरमारचयति—**वदनेति** । वदनं मुखं तस्य अधोविभागः अधस्तनावयवसंघातः ताभ्यां व्यञ्जितः ज्ञापितः मातङ्गमानवयोः गजनरयोः अभेदो यस्य स तथोक्तः, मुखे गजरूपोऽन्यत्र नररूप इति यावत् । मदनारेः परमशिवस्य भागधेयं भाग्यरूपं कमपि निरुपाख्यम् , श्रीविघ्नराजात्मकं महिमानं वयं उपास्महे भजामहे इत्यर्थः ॥ २ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादिश्रुतेर्गुरूपदिष्टानुपदिष्टसकलार्थावगतिर्गुरुभक्त्यधीनेति गुरुं नमस्करोति—**यदिति** । यदपाङ्गितः

बायाँ पैर रक्खा है, अर्थात् जो वीरासनसे स्थित हैं और जो वटवृक्षके मूलमें रहते हैं, ऐसे किसी एक (अव्यपदेश्य श्रीदक्षिणामूर्तिरूप) वस्तुका हम अनुसरण करते हैं, उनकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

'श्रेयस्कर कार्योंमें बहुत विघ्न आते हैं' ऐसी प्रसिद्धि है, अतः इस परमश्रेयःसाधनीभूत ग्रन्थमें अनेक विघ्नोंकी संभावना है, उनकी निवृत्ति करनेमें समर्थ श्रीविघ्नराज महागणपतिका स्मरणरूप दूसरा मंगलाचरण करते हैं—'वदन०' इत्यादिसे ।

जिसने मुख और उसके अधोभाग (धड़) इन दोनोंसे गज और मनुष्य इन दोनोंके अभेदका बोधन किया है, ऐसे श्रीपरमशिवके भागधेय (भाग्यस्वरूप) किसी महिमाकी (अवर्णनीय साक्षात् विघ्नराजकी) हम उपासना करते हैं ॥ २ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

(जिसकी देवमें परम भक्ति हो और जैसी देवमें वैसी ही गुरुमें परम भक्ति हो उसको ही शास्त्रोक्त अर्थ प्रकाशित होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि

सिद्धान्तलेशसंग्रहवर्णितनानामतावधानाय ।
हृद्यैरहं कतिपयैः पद्यैः संदर्भयामि कृतिमेताम् ॥ ४ ॥

येनाऽपाङ्गितः कटाक्षितः । प्रबोधः जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कारः । भवदुःस्वप्नावसानकरः भवः संसारः मिथ्यापरिकल्पितः स एव दुःस्वप्नः सकलानर्थभाजनत्वात् तस्याऽवसानकरः सवासनोच्छेदकरः, ज्ञानेनाऽज्ञानोच्छेदे तत्कार्यसंसारोच्छेदस्याऽवश्यंभावित्वात् । एवं च सविलासाज्ञानोच्छेदक्षमसाक्षात्कारः यत्कटाक्षैकलभ्यः तं अखिलतन्त्रजीवातुम् अखिलानि यानि तन्त्राणि दर्शनानि तेषां जीवातुं उज्जीवकम्, सर्वेषां तन्त्राणां परमतात्पर्येणाऽद्वितीयब्रह्मावसायित्वस्य तत्र तत्र स्वकृतग्रन्थेषु स्थापितत्वात् । एतादृशं परमशिवेन्द्रं श्रीगुरुम् अहं वन्दे नमस्करोमीत्यर्थः ॥ ३ ॥

चिकीर्षितं प्रतिजानीते—सिद्धान्तेति । हृद्यैः बह्वर्थसूचकसरलपदगुम्भितत्वेन मनोहरैः । एतां चिकीर्षितत्वेन बुद्धिस्थां कृतिं सिद्धान्तकल्पवल्ल्याख्यामित्यर्थः ॥ ४ ॥

गुरुसे उपदिष्ट और अनुपदिष्ट सम्पूर्ण अर्थोंका बोध होना गुरुभक्तिके अधीन है, इस आशयसे अपने गुरुको नमस्कार करते हैं—'यदपाङ्गितः' इत्यादिसे ।

जिस गुरु द्वारा अपने कृपाकटाक्षसे वितीर्ण प्रबोध (जीव और ब्रह्मके ऐक्यका साक्षात्कार) संसाररूप दुःस्वप्नका अन्त कर देता है; अर्थात् जैसे किसी पुरुषको—मेरे पीछे पागल कुत्ता लगा है ऐसा स्वप्न आनेपर भय और उद्वेगसे जब वह चिल्लाता है तब पास सोये हुए किसी दयालु पुरुष द्वारा उसके जगाये जानेपर दुःस्वप्नजन्य सब अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही सकल अनर्थोंसे भरा हुआ यह अज्ञानसे कल्पित संसार ही दुःस्वप्नरूप है, उसका गुरुकृत प्रबोधसे अन्त अर्थात् वासनासहित उच्छेद हो जाता है । ज्ञानसे अज्ञानका उच्छेद हो जानेपर अज्ञान-कार्यभूत संसारकी निवृत्ति अवश्य हो जायगी एवं सविलास अज्ञानका उच्छेद करनेमें समर्थ आत्मसाक्षात्कार जिनके कृपाकटाक्षमात्रसे मिल सकता है एवं जो अखिल तन्त्रजीवातु—सकल शास्त्रोंका उज्जीवन करनेवाले हैं—अर्थात् सब तंत्रोंका परम तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें पर्यवसित है, ऐसा जिन्होंने अपने ग्रन्थोंमें निर्णय किया है, ऐसे परमशिवेन्द्र श्रीगुरुको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

जिस ग्रन्थकी रचना करना अभीष्ट है, उसकी ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करते हैं—महानुभाव श्रीमान् अप्पय्यदीक्षिताचार्य द्वारा रचित सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह नामक प्रबन्धमें संकलित जो नाना प्रकारके मत-मतान्तर हैं, वे अल्प परिश्रमसे हृदयारूढ़ हों, इसलिए मैं हृदयंगम कई एक पद्योंसे इस बुद्धिस्थ ग्रन्थको बनाता हूँ ॥ ४ ॥

१. विधिवादः

इह खलु शान्त्यादिमतः प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधसंपत्त्यै ।
आत्मा श्रोतव्य इति श्रुतो विधिः किंविधो ग्रहीतव्यः ॥ ५ ॥

तत्र प्रथमं समन्वयाध्यायार्थं दिदर्शयिषुरादौ साधनचतुष्टयसंपन्नस्याऽऽपातप्रतिपन्नब्रह्मात्मभावस्य तज्जिज्ञासोस्तज्ज्ञानाय 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र प्रतीयमानस्य विधेः प्रकारप्रश्नमाह—इहेति। तत्र त्रयो हि विधयः सन्ति—अपूर्वः, नियमः, परिसङ्ख्या चेति। तत्र विना वचनं कथमपि अप्राप्तस्य प्राप्तिफलको विधिराद्यः, यथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति। पक्षप्राप्तस्याऽप्राप्तांशस्य परिपूरणफलको विधिर्द्वितीयः, यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इति। उभयत्रैकस्य उभयोर्वा एकत्र युगपत्प्राप्तौ अन्यतरनिवृत्तिफलको विधिस्तृतीयः, यथा अग्निचयनेऽश्वगर्दभरशनयोर्ग्रहणे युगपदनुष्ठेये सामर्थ्याविशेषेण युगपत्प्राप्तस्य

यहाँ पहले समन्वयाध्यायका अर्थ दिखलानेके लिए आदिमें साधनचतुष्टयसम्पन्न और जिसको ब्रह्मात्मभावकी आपाततः प्रतीति हुई हो, ऐसे जिज्ञासुको आत्मज्ञान हो, इसलिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (अरे! आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है और निदिध्यासितव्य है) इस श्रुतिमें प्रतीयमान जो तव्यत्प्रत्ययबोध्य विधि है, वह किस प्रकारकी है? ऐसा प्रश्न करते हैं—'इह खलु' इत्यादिसे।

विधियाँ तीन प्रकारकी हैं—अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसङ्ख्याविधि। इनमें विधिवचनके बिना जिसकी किसी भी प्रकारसे प्राप्ति न हो, उसकी प्राप्ति जिससे फलित हो, वह अपूर्वविधि कहलाती है, जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' (पुरोडाश बनानेके लिए लाये गये धानोंका प्रोक्षण करे) यहाँ व्रीहिका प्रोक्षण 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वचनके बिना सर्वथा अप्राप्त है, अतः यह अपूर्वविधि है। पक्षमें प्राप्तके अप्राप्त अंशका परिपूरण जिसका फल हो, उसको नियमविधि कहते हैं, यथा 'व्रीहीनवहन्ति' (धानोंको ऊखलमें डालकर मूसलसे कूटे) यहाँ जो छिलका निकालना है, वह नख आदि अन्य साधनोंसे भी हो सकता है, किन्तु ऐसा न करके मूसलसे कूट करके ही छिलका निकालना चाहिये, ऐसा नियम इस विधिसे फलित होता है, अतः यह नियमविधि कही गई है। जहाँ दोनोंमें एककी अथवा एकमें दोनोंकी एक समय प्राप्ति होती हो वहाँ दोमें से एककी निवृत्ति जिससे फलित हो, उस तृतीय प्रकारको परिसंख्याविधि कहते हैं, जैसे—अग्निचयनयागमें अश्व और गर्दभ दोनोंकी रशनाके (डोरीके) एक समय ग्रहणका अनुष्ठान

अत्र प्रकटार्थकृतः श्रवणं ब्रह्मापरोक्षहेतुतया ।
अप्राप्तमतो विधिरयमपूर्व एवेति मन्यन्ते ॥ ६ ॥

'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इति मन्त्रस्य 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इति गर्दभरशनाग्रहणस्य व्यावृत्तिमात्रफलको विधिः; यथा वा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति च । एवं त्रिप्रकारेषु तेषु श्रवणविधिः किंप्रकार आश्रयणीय इत्यर्थः ॥ ५ ॥

वेदान्तश्रवणं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुतया कुत्राऽप्यप्राप्तं प्रमाणान्तरेण । कृतश्रवणस्याऽपि कस्यचित् तदनुदयेनाऽकृतश्रवणस्याऽपि वामदेवादेस्तदुदयेन चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारदर्शनात्, श्रवणमात्रं श्रोतव्यार्थसाक्षात्कारहेतुरिति सामान्यनियमस्य कर्मकाण्डश्रवणे व्यभिचाराच्च । अतोऽप्राप्तत्वादयमपूर्वविधिरेवेति मतेनोत्तरमाह—अत्रेति ॥६॥

किया जाता है, वहाँ 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्रका रशनाग्रहणरूप अर्थके समान होनेसे गर्दभरशनाग्रहणमें भी विनियोग प्राप्त होता है, उसकी 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (अश्वसम्बन्धिनी रज्जूको लेता है) इस वाक्यसे व्यावृत्ति होती है, अतएव गर्दभरशनाग्रहणकी व्यावृत्ति करना इतना ही फल होनेसे यह परिसंख्याविधि है, अन्यत्र 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादि वाक्योंमें भी 'परिगणित शशकादि पाँच पंचनख प्राणियोंसे भिन्न पंचनख प्राणी भक्ष्य नहीं हैं' ऐसा अर्थ फलित होता है, 'शशकादिका भक्षण करे' ऐसा विधान फलित नहीं होता अर्थात् निवृत्तिमात्रफलक परिसंख्याविधि कहलाती है—इन तीनों प्रकारोंमें से 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह किस प्रकारकी विधि है ? अर्थात् उक्त तीन प्रकारोंमें से यहाँ किस प्रकारका आश्रयण करना चाहिये ॥ ५ ॥

वेदान्त-श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कारका हेतु है, ऐसा कहीं भी प्रमाणान्तरसे प्राप्त नहीं है। और वेदान्तश्रवण करनेसे भी किसी किसी व्यक्तिको ब्रह्मसाक्षात्कारका नहीं होता और जिन्होंने वेदान्तश्रवण नहीं किया, ऐसे वामदेवादिको ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है; इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरहका व्यभिचार देखनेमें आता है और श्रोतव्य अर्थके साक्षात्कारके प्रति श्रवणमात्र हेतु है—इस सामान्य नियमका कर्मकाण्डके श्रवणमें व्यभिचार देखते हैं, अतः आत्माका साक्षात्कार अप्राप्त होनेसे यह 'श्रोतव्यः' इत्यादि अपूर्वविधि है, इस मतसे उत्तर कहते हैं—'अत्र' इत्यादिसे।

प्रकटार्थकार यों कहते हैं कि श्रवण ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके प्रति हेतु है, ऐसा प्रमाणान्तरसे प्राप्त नहीं हैं, इसलिए 'श्रोतव्यः' इसको अपूर्वविधि मानना चाहिये ॥६॥

वेदान्तश्रवणमिदं नाऽप्राप्तं किन्तु पक्षतः प्राप्तम् ।
नियमविधिरेष तस्मादित्याहुर्विवरणाचार्याः ॥ ७ ॥

ननु वेदान्तश्रवणं नित्यापरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारहेतुतया नाऽप्राप्तम्, अपरोक्ष-वस्तुविषयप्रमाणस्य साक्षात्कारहेतुत्वेन, विचारस्य विचार्यनिर्णयहेतुत्वेन च विचारितवेदान्तशब्दज्ञानरूपस्य श्रवणस्य तद्धेतुत्वप्राप्तेः । न चोक्तव्यभिचारः, सहकारिविरहेणाऽन्वयव्यभिचारस्याऽदोषत्वात्, जन्मान्तरश्रवणात् फलसंभवेन व्यतिरेकव्यभिचाराभावाच्च । अतो नाऽपूर्वविधिरिति अपरितोषान्मतान्तरमाह—वेदान्तेति । नियमविधिरेवाऽयम्, तद्विध्यभावे मनोगोचरे स्वस्मिन् श्रुतिबोधित-सूक्ष्मतमविशेषावधारणाय मनस एव सप्रणिधानं व्यापारे तच्छास्त्रश्रवणेऽपि मेधाविनो गुरुनिरपेक्षवेदान्तविचारे मन्दव्युत्पन्नस्य भाषाप्रबन्धश्रवणे प्रवृत्तिप्रसक्ति-रस्तीति साधनत्वस्य भ्रान्तिप्राप्तेर्मनःप्रणिधानादिभिर्गुर्वधीनाद्वितीयवस्तुपरवेदान्त-श्रवणं पक्षतः प्राप्तमित्यतो नियमविधिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

शङ्का—वेदान्तश्रवण नित्य अपरोक्ष ब्रह्मके साक्षात्कारका हेतु है, ऐसा अप्राप्त नहीं है; क्योंकि अपरोक्ष वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण साक्षात्कारका हेतु होता है और विचारितवेदान्तशब्दज्ञानरूप श्रवण विचार्य वस्तुके निर्णयका हेतु है, अतः उसमें अर्थात् साक्षात्कारहेतुत्व प्राप्त होता है । और ऊपर जो व्यभिचार दोष कहा गया है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सहकारी कारणकी अनुपस्थितिसे अन्वय-व्यभिचार दोष नहीं होता और जन्मान्तरकृत श्रवणसे फलका संभव होनेसे व्यतिरेकव्यभिचार दोष भी नहीं हो सकता । इससे यह 'द्रष्टव्यः' इत्यादि अपूर्वविधि नहीं मानी जा सकती, इस प्रकार अपरितोषसे मतान्तर बतलाते हैं—'वेदान्त०' इत्यादि ।

यह 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि नियमविधि ही है । यदि यह नियमविधि न मानी जाय, तो अपने मनोगोचर स्वरूपमें श्रुति द्वारा संबोधित सूक्ष्मतम विशेषके अव-धारणके लिए मनके सप्रणिधान व्यापारमें, उस शास्त्रका श्रवण करनेपर भी मेधावी (ग्रहण-धारण-शक्तिशाली) पुरुषकी गुरुकी अपेक्षाके बिना ही वेदान्तविचारमें और मन्दमति व्युत्पत्तिहीन जनकी भाषाप्रबन्धके श्रवणमें प्रवृत्ति प्राप्त होगी, इससे इनमें भी भ्रांतिसे साधनत्वबुद्धिका होना संभव है, अतः मनःप्रणिधान आदि द्वारा गुरुके अधीन अद्वितीय वस्तुपरक वेदान्तवाक्योंका श्रवण पक्षमें प्राप्त है, अतः यह 'श्रोतव्यः' इत्यादि नियमविधि है ॥ ७ ॥

केचित्परोक्षमेव ज्ञानं शब्दादुदेति पश्चात्तु ।
तस्मान्मननादियुतादपरोक्षज्ञानमत्र नियम इति ॥ ८ ॥

साक्षात्कारे करणं विमलं मन एव न तु शब्दः ।
शब्दः परोक्षमात्रे तस्मात्तत्रैव नियम इत्यपरे ॥ ९ ॥

प्रथमं शब्दान्निर्विचिकित्सं परोक्षज्ञानमेवोदेति पश्चान्मननादिसहिताचस्मादेव शब्दादपरोक्षज्ञानम्, भावनाप्रचयस्य बाह्यार्थासमर्थे विधुरचित्ते कामिनीसाक्षात्कारसामर्थ्याधायकत्वक्लृप्तेः । एवं च परोक्षज्ञान एव प्रागुक्तरीत्या पाक्षिकत्वप्राप्तौ नियमविधिरिति मतान्तरमाह—केचिदिति ॥८॥

अत्राऽपरोक्षज्ञाने 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतेः शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतं मन एव साक्षात्कारे करणम्, न तु शब्दः । शब्दस्तु परोक्षमात्रे । तस्माचत्रैव पूर्ववन्नियमविधिरिति मतान्तरमाह—साक्षादिति ॥९॥

शब्दसे पहले तो निःसंशय परोक्षज्ञान ही होता है; पीछे मनन आदि सहकारी कारणोंके बलसे उसी शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, क्योंकि बाह्य अर्थके ग्रहणमें असमर्थ विधुरचित्तमें भावनाके आधिक्यसे कामिनीसाक्षात्कारकी सामर्थ्य देखी जाती है। इसलिए परोक्ष ज्ञानमें ही पूर्वोक्त रीतिसे पाक्षिक प्राप्ति होनेसे यह नियमविधि है, इस प्रकार मतान्तर कहते हैं— केचित्' इत्यादिसे।

कई एक लोग कहते हैं—पहले शब्दसे परोक्ष ज्ञान ही होता है, पीछे जब उन शब्दोंको मनन आदि सहकारी कारणोंका साथ मिलता है तब उन्हीं शब्दोंसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः यह नियमविधि है ॥ ८ ॥

इस अपरोक्ष ज्ञानमें 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही अनुदर्शन करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिसे आचार्यकृत शास्त्रोपदेशसे संस्कृत केवल मन ही साक्षात्कारमें कारण है, शब्द नहीं है। शब्द तो केवल परोक्ष ज्ञानमें कारण है। इससे उसीमें पूर्ववत् नियमविधि माननी चाहिए, ऐसा मतान्तर कहते हैं—'साक्षात्कारे' इत्यादिसे।

आत्मसाक्षात्कारमें असाधारण कारण केवल निर्मल मन ही है, न कि शब्द; शब्द तो परोक्षमात्रमें ही कारण होता है, अतः उसीमें नियमविधि है, ऐसा अन्य वेदान्तैकदेशी मानते हैं ॥ ९ ॥

भवतु मन एव साक्षात्कारे करणं तथापि तत्रैव ।
सहकारितया श्रवणं नियम्यते न तु परोक्ष इत्येके ॥ १० ॥

संक्षेपाचार्यास्तु श्रवणं न ज्ञानफलकमेवं च ।
पुरुषापराधशान्त्यै नियम्यते श्रवणमित्याहुः ॥ ११ ॥

अस्तु नाम साक्षात्कारे मन एव करणम्, तथापि प्रकाशमाने वस्तुन्यारोपिताविवेकनिवारकशास्त्रसद्भावे तच्छ्रवणं तत्साक्षात्कारकरणसहकारीति नियमस्य श्रोत्रसहकारिणि षड्जाद्यविवेकनिरासके गान्धर्वशास्त्रे क्लृप्तत्वात् । 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति दर्शनमुद्दिश्य श्रवणविधानाच्चैत्र साक्षात्कारकरणीभूतमनःसहकारितया श्रवणं नियम्यत इति मतान्तरमाह—भवतु मन एवेति ॥ १० ॥

श्रवणं नाम न विचारितवेदान्तशब्दज्ञानरूपम्, ज्ञानस्याऽविधेयत्वात्; किन्तु ऊहापोहात्मकमानसक्रियारूपम् । तच्च न परोक्षादिज्ञानफलकम्, ज्ञानस्य प्रमाणफलत्वात् । एवं च तात्पर्यनिर्णयद्वारा तात्पर्यभ्रमरूपपुरुषापराधशान्त्यर्थत्वेन श्रवणं नियम्यत इति मतान्तरमाह—संक्षेपाचार्यास्त्विति । पुरुषापराधनिरासः

'भवतु' इत्यादि । साक्षात्कारमें भले ही केवल मन करण हो, परन्तु प्रकाशमान वस्तुमें आरोपित अविवेकका निवारण करनेवाला शास्त्र जहां विद्यमान है, वहां उस शास्त्रका श्रवण उस वस्तुके साक्षात्कारकरणका सहकारी होता है, ऐसा नियम, श्रोत्रेन्द्रियके सहकारी षड्ज आदि स्वरोंके अविवेकका निरास करनेवाले सङ्गीतशास्त्रमें पाया जाता है । 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' यहांपर भी दर्शनका उद्देश करके श्रवणका विधान है, अतः उसीमें साक्षात्कारके करणरूप मनके सहकारी-भावसे श्रवणका नियमन किया जाता है; परोक्षमें नहीं; ऐसा कई एकका मत है ॥ १० ॥

यहां श्रवणपदका केवल विचारित वेदान्तशब्दोंका ज्ञान ही अर्थ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञान विधेय नहीं हो सकता; किन्तु ऊहापोहरूप मानसक्रियाका उसका परोक्षादि ज्ञान फल नहीं है। ज्ञान तो प्रमाणफल है; अतः तात्पर्यभ्रमरूप पुरुषके दोषकी शान्तिके लिए यहां श्रवणका नियमन किया गया है, ऐसा मतान्तर कहते हैं—'संक्षेपा०' इत्यादिसे ।

सङ्क्षेपशारीरक महानिबन्धके प्रणेता भगवान् सर्वज्ञमहामुनि यहाँ विधिका स्वरूप ऐसा बतलाते हैं—केवल ज्ञान ही श्रवणका फल नहीं है, किन्तु जहाँ तात्पर्यभ्रमरूप पुरुषदोष होता है, वहाँ तात्पर्यका निर्णय दर्शाकर उस पुरुषापराधकी निवृत्ति करानेमें श्रवणका नियमसे उपयोग है अर्थात्—श्रवणका फल पुरुषदोष-

श्रवणमनुतिष्ठतः स्यादन्यत्राऽपि क्वचित्प्रवृत्तिरिति ।
तद्व्यावृत्तिफलां परिसंख्यामभिदधति वार्तिकाचार्याः ॥ १२ ॥

वेदान्तवाक्यजन्यो बोधः श्रवणं तदत्र मानफले ।
का वा कथा विधीनामिति वाचस्पतिमतानुगाः प्राहुः ॥ १३ ॥

फलम् ; द्रष्टव्य इति दर्शनार्थत्वेन स्तुतिमात्रम् , न श्रवणफलकीर्तनमिति भावः ॥११॥

ब्रह्मज्ञानार्थं वेदान्तश्रवणं कुर्वतश्चिकित्साज्ञानार्थं चरकादिग्रन्थे प्रवृत्तस्येव मध्ये मध्ये व्यापारान्तरेऽपि प्रवृत्तिः प्रसज्येत इति तन्निवृत्तिफलकः परिसङ्ख्या-विधिरिति मतान्तरमाह—श्रवणमिति । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति', 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इति व्यापारान्तरप्रतिषेधश्रवणादिति भावः ॥ १२ ॥

'आत्मा श्रोतव्यः' इत्यात्मविषयत्वेन निबध्यमानमागमाचार्योपदेशजन्य-मात्मज्ञानमेव श्रवणम्, न तु विचाररूपम् । तस्मादत्र प्रमाणफले श्रवणे न

का निरास है और आगे जो 'द्रष्टव्यः' कहा गया है, वह तो दर्शनोपयोगी होनेसे श्रवणकी केवल स्तुति है, श्रवणके फलका कथन नहीं है ॥ ११ ॥

जैसे चिकित्साज्ञानके लिए चरक आदि ग्रन्थोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषकी बीच-बीचमें अन्य व्यापारमें भी प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्तका श्रवण करनेवाले पुरुषकी भी बीच-बीचमें अन्यान्य व्यापारोंमें प्रवृत्तिका प्रसङ्ग हो सकता है, अतः उन व्यापारोंकी निवृत्तिके लिए यह 'श्रोतव्यः' इत्यादि परिसङ्ख्या-विधि है, ऐसा मतान्तर दर्शाते हैं—'श्रवणम्' इत्यादिसे ।

जो पुरुष वेदान्तश्रवण करता है, उसकी अन्यत्र भी कहीं प्रवृत्ति हो सकती है, उसकी व्यावृत्तिके लिए यह परिसंख्याविधि है । क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित अर्थात् ब्रह्मभावनारूढ़ पुरुष मोक्षको पाता है), 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' (उस एक आत्माको ही जानो, दूसरी बातोंको छोड़ दो) इत्यादि अन्य श्रुतिसे अन्य प्रवृत्तिका प्रतिषेध सुनते हैं; अतः यह श्रवणविधि परिसंख्याविधि है, ऐसा श्रीवार्त्तिकाचार्यका (श्रीसुरेश्वराचार्यका) मत है ॥ १२ ॥

'आत्मा श्रोतव्यः' इसमें आचार्यमुखसे आगमवाक्योपदेश द्वारा जनित जो आत्म-विषयक ज्ञान है, उसको ही श्रवण कहना चाहिये, अन्य किसी विचाररूपको नहीं; इससे यहाँ प्रमाणफलभूत श्रवणमें कोई विधि नहीं है, ऐसा मतान्तर कहते हैं—'वेदान्त०' इत्यादिसे ।

२. कारणत्ववादः

जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं ब्रह्मणः श्रुतावुक्तम् ।
तल्लक्षणत्रयमिति प्रसाधयन्ति स्म कौमुदीकाराः ॥ १४ ॥

कोऽपि विधिः प्रवर्तते, अयोग्यत्वात्, शिलादौ क्षुरधारेव, इति मतान्तरमाह—**वेदान्तेति**। एवं च श्रवणविध्यभावात् कर्मकाण्डविचारवद् ब्रह्मकाण्डविचारोऽप्यध्ययनविधिमूलक इति भावः ॥ १३ ॥

इत्थं जिज्ञासासूत्रविषयपरिशोधनात्मकं विधिवादं समाप्य इदानीं जन्मादिसूत्रविषयं परिशोधयितुमाह—**जगदिति**। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतौ जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्। तत्राऽप्येकैककारणत्वमनन्यगामीति तल्लक्षणत्रयमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भामती आदि महानिबन्धोंके प्रणेता वाचस्पतिमिश्र और उनके अनुयायी यों कहते हैं कि आचार्यमुखसे 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्योंके उपदेश द्वारा उत्पन्न हुआ बोध (आत्मज्ञान) ही श्रवण है, ऐसी परिस्थितिमें इस प्रमाणके फलरूप श्रवणमें किसी विधिकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे शिला आदिमें क्षुरधारा कुछ नहीं कर सकती वैसे ही यहाँ भी विधि कुछ नहीं कर सकती अर्थात् ज्ञानमें विधिका होना अयुक्त है। उक्त रीतिसे जब श्रवणविधिका अभाव है तब कर्मकाण्डविचारकी नाईं ब्रह्मकाण्डविचार भी अध्ययनविधिमूलक ही है, ऐसा मानना उचित है ॥ १३ ॥

इस प्रकार जिज्ञासासूत्रका जो विषय उसका परिशोधनरूप विधिवादका निरूपण करके अब जन्मादिसूत्रके विषयका परिशोधन करनेके लिए कहते हैं—'जगत्०' इत्यादिसे।

श्रुतिमें ब्रह्मको जगत्के जन्म आदिका कारण बताकर जो तटस्थ लक्षण कहा गया है, वहाँ—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिस निमित्तसे जीते हैं—अर्थात् प्राणधारणादि करते हैं तथा प्रयाणसमयमें जिसमें लीन होते हैं—वह ब्रह्म है) इस श्रुतिमें कहा गया लक्षण एक नहीं है, किन्तु तीन हैं, क्योंकि इस वाक्यमें एक एक कारणके अनन्यगामी होनेके कारण प्रत्येक कारणको ब्रह्मलक्षण माननेसे ब्रह्मके ये तीन लक्षण हैं, ऐसा कौमुदीकारका मत है ॥ १४ ॥

केचिदभिन्ननिमित्तोपादानत्वस्य लाभाय ।
इदमेकमेव लक्षणमस्येति प्राहुराचार्याः ॥ १५ ॥

अस्योपादानत्वं विश्वाकृत्या विवर्तमानत्वम् ।
तत्र विवर्तः स्वासमसत्ताकतदन्यथाभावः ॥ १६ ॥

उत्पत्तिस्थितिकारणत्वस्य निमित्तसाधारण्याद् लयकारणत्वमात्रोक्तावुपादानकारणत्वसिद्धावपि निमित्तत्वासिद्धेरभिन्ननिमित्तोपादानत्वसिद्ध्यर्थमिदमेकमेव लक्षणमिति मतान्तरमाह—केचिदिति । अस्य जगत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अत्रोपादानत्वं न परमाणुवदारम्भकत्वम्, एकत्वात् । नाऽपि प्रकृतिवत्परिणामित्वम्, अविकारित्वात् । किन्तु अविद्यया वियदादिविश्वाकारेण विवर्तमानत्वमित्याह—अस्येति । विवर्तलक्षणमाह—तत्रेति । विवर्त इति लक्ष्यनिर्देशः । उपादानविषमसत्ताकत्वे सति अन्यथाभावत्वं लक्षणमिति दिक् ॥ १६ ॥

यदि ब्रह्मको उत्पत्तिकारण और स्थितिकारण कहें, तो उसमें निमित्तकारणताका बोध होगा; और यदि ब्रह्मको केवल जगत्के लयका कारण कहें, तो उपादानकारणताकी सिद्धि होनेपर भी निमित्तकारणताकी सिद्धि नहीं होगी; इससे इन तीनोंको मिलाकर एक ही लक्षण माननेवाले आचार्योंका मत कहते हैं—'केचित्' इत्यादिसे ।

इस जगत्का ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, ऐसा सिद्ध करनेके लिए 'यतो वा इमानि' इस श्रुतिमें ब्रह्मके तटस्थलक्षणके जो तीन वाक्य कहे हैं, उन तीनोंको मिलाकर एक ही लक्षण मानना उचित है; ऐसा एक आचार्य कहते हैं ॥ १५ ॥

ऊपर ब्रह्म इस जगत्का उपादान कारण कहा गया है, सो जैसे परमाणुओंको घटादिके आरंभक मानते हैं, वैसे ब्रह्म आरंभक उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म एक ही है; और प्रकृति की नाई ब्रह्म जगत्का परिणामी उपादान कारण भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि ब्रह्म अविकारी है । किन्तु अविद्यासे केवल आकाशादि प्रपञ्चाकारसे विवर्त्तमान ही उपादान कारण है, ऐसा कहते हैं—'अस्योपादानत्वम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मको जो जगत्का उपादानकारण कहा, वह विश्वाकारसे विवर्त्तमानरूप ही है, ऐसा समझना चाहिये । कारिकामें स्थित विवर्त्तपद लक्ष्यपरक है, इसका लक्षण ऐसा है—उपादानसे विषमसत्तावाला जो अन्यथाभाव वह विवर्त्त कहा जाता है; जैसे—

अथ किमिहोपादानं शुद्धं किमुतेश्वरोऽथ जीवो वा ।
अत्राऽऽहुः संक्षेपाचार्यास्तच्छुद्धमेवेति ॥ १७ ॥

विवरणमतैकनिष्ठा यः सर्वज्ञ इति वचनमवलम्ब्य ।
मायाशबलः सर्वविदीश्वर एवैतदित्याहुः ॥ १८ ॥

इत्थं लक्षणे निर्णीते लक्ष्यं पृच्छति—अथेति । जन्मादिसूत्रतद्भाष्ययोरुपादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तेः शाखाचन्द्रस्थले तटस्थलक्षणेनाऽपि लक्ष्यसिद्धिदर्शनाच्छुद्धमेवोपादानमिति संक्षेपशारीरकमतेनोत्तरयति—अत्रेत्यादिना । तथा च 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतौ शबलवाचिन आत्मपदस्य शुद्धे लक्षणेति भावः ॥ १७ ॥

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादिश्रुत्यवष्टम्भेन सर्वज्ञत्वादिविशिष्टो मायाशबलः

रस्सीका जो सर्परूप अन्यथाभाव है, वह विवर्त्त है, क्योंकि यहाँ उपादान जो रस्सी है, उसकी व्यावहारिकी सत्ता है और सर्पकी प्रातिभासिकी सत्ता है, इससे रस्सी सर्पका विषमसत्तावाला कारण होनेसे विवर्त्तोपादान कहलाती है, वैसे ही संसारका ब्रह्म विवर्त्तोपादान है, क्योंकि उपादान (अधिष्ठानभूत) ब्रह्मकी पारमार्थिकी सत्ता होनेसे दोनोंकी समसत्ता नहीं है, किन्तु विषमसत्ता होनेसे विवर्त्तोपादानता सिद्ध होती है ॥ १६ ॥

लक्षणका निर्णय करके अब लक्ष्यका निर्णय करनेके लिए पूछते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

ऊपर जो उपादान कारण कहा गया है, उसपर प्रश्न उठता है कि क्या शुद्ध ब्रह्मको उपादानकारण मानते हो ? या ईश्वरको उपादानकारण मानते हो ? अथवा जीवको उपादानकारण कहते हो ? इन तीनों विकल्पोंमें आचार्योंका मतभेद दर्शाते हैं—इस विषयमें संक्षेपशारीरककार आचार्य सर्वज्ञमुनि कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्मको ही उपादान कारण मानना उचित है, क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें तथा इस सूत्रके भाष्यमें ज्ञेय ब्रह्ममें उपादानकारणत्वका प्रतिपादन किया गया है और शाखा चन्द्रादिस्थलोंमें तटस्थलक्षणसे भी लक्ष्यकी सिद्धि देखी जाती है, इस परिस्थितिमें शुद्ध ब्रह्ममें ही उपादानकारणताका अङ्गीकार करना चाहिये। इससे 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिमें शबलब्रह्मवाची जो आत्मपद है, उसकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

इसी विषयमें विवरणकारका मत दर्शाते हैं—'विवरण०' इत्यादिसे ।

विवरणकार श्रीचरण प्रकाशात्ममुनिके मतका अवलम्बन करनेवाले 'यः सर्वज्ञः

वियदादावीशोऽन्तःकरणमुखे द्वौ तु जीवेशौ ।
योनिरिति संगिरन्ते मायाविद्याभिदाविदः केचित् ॥ १९ ॥
अन्तःकरणप्रभृतेः स्वाविद्यामात्रपरिणतत्वेन ।
स्याज्जीव एव योनिस्तत्रेति तदेकदेशिनः प्राहुः ॥ २० ॥

सर्ववित् ईश्वर एवोपादानमिति मतान्तरमाह—विवरणेति । तथा च संक्षेपशारीरकग्रन्थोऽपि विशिष्टनिरासपरत्वेनाऽनुकूलो व्याख्यातुं शक्य इति भावः ॥ १८ ॥

'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इति कलाशब्दवाच्यप्राणान्तःकरणादीनां विदुषः प्रायणे जीवाश्रिताविद्याकार्यभूतसूक्ष्मपरिणामत्वाभिप्रायेण विद्ययोच्छेद उक्तः, 'गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः' इति श्रुत्यन्तरे ईश्वराश्रितमायाकार्यमहाभूतपरिणामत्वाभिप्रायेण प्रतिष्ठाशब्दितमहाभूतेषु लयोक्तेश्च अन्तःकरणादौ जीवेशावुभावप्युपादानम्, वियदादौ त्वीश्वर एवेति मायाविद्याभेदवादिषु केषांचिन्मतमाह—वियदिति ॥१९॥

यथा वियदादेः ईश्वराश्रितमायापरिणामत्वेन तत्रेश्वर एवोपादानम्, तथा

सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ और सर्वविद्--सर्वानुभू--है) इस श्रुतिवचनके आधारपर सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट मायासे उपहित जो सर्वज्ञ ईश्वर है, वही उपादानकारण है, ऐसा कहते हैं, इस मतसे संक्षेपशारीरक ग्रन्थका भी विशिष्टके निरासमें तात्पर्य मानकर अनुकूल व्याख्यान हो सकता है ॥ १८ ॥

इसी विषयमें माया और अविद्याको भिन्न माननेवालेका मत दिखलाते हैं— 'वियदा०' इत्यादिसे ।

'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (ऐसे ही इस परिद्रष्टाकी सोलह कलाएँ, जो पुरुषका आश्रय करती हैं, पुरुषको प्राप्त होकर अस्तको प्राप्त हो जाती हैं) इस श्रुतिमें विद्वान्के अवसानकालमें कलाशब्दवाच्य प्राण, अन्तःकरण आदिका जो विद्यासे उच्छेद कहा गया है, वह जीवाश्रित अविद्याके कार्य भूतसूक्ष्मके अन्तःकरण आदि परिणाम हैं, ऐसा मानकर कहा गया है और 'गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः' इस दूसरी श्रुतिमें उन्हें ईश्वराश्रित मायाके कार्य महाभूतके परिणाम मानकर सब कलाओंका प्रतिष्ठाशब्दित महाभूतोंमें लय कहा गया है, इससे अन्तःकरणादिमें जीव और ईश्वर दोनों उपादान हैं और आकाशादिमें केवल ईश्वर ही उपादान है; ऐसा माया और अविद्याका भेद माननेवाले कई एक आचार्योंका मत है ॥ १९ ॥

जैसे आकाश आदि ईश्वराश्रित मायाके परिणाम हैं, अतः उनका उपादान

तदभेदवादिमध्ये केचिज्जीवे तदध्यासात् ।
अन्तःकरणादीनां जीवोपादानतामाहुः ॥ २१ ॥

इतरे तु संगिरन्ते यावव्द्यवहारसिद्धविश्वस्य ।
ब्रह्मैवोपादानं जीवस्तु प्रातिभासिकस्येति ॥ २२ ॥

अन्तःकरणादेर्जीवाविद्यामात्रपरिणतत्वेन तत्र जीव एवोपादानम्; 'गताः कलाः' इति श्रुतिस्तु म्रियमाणे तत्त्वविदि पार्श्वस्था भूतेषु लयं पश्यन्तीति परदृष्ट्यभिप्रायेति कलाप्रलयाधिकरणभाष्ये स्पष्टत्वादित्यभिप्रेत्य तदेकदेशिमतमाह— अन्तःकरणेति ॥ २० ॥

अन्तःकरणादौ जीवतादात्म्यस्याऽनुभवादध्यासभाष्ये जीव एव तदध्यासवर्णनाज्जीव एवोपादानमिति मायाविद्ययोरभेदवादिष्वेकदेशिमतमाह—तदभेदेति ॥२१॥

'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिश्रुतेर्व्यावहारिकाशेषप्रपञ्चस्य ब्रह्मैवोपादानम्, जीवस्तु प्रातिभासिकस्य स्वप्नप्रपञ्चस्य चेति मतान्तरमाह—इतरे त्विति । ब्रह्मणो

केवल ईश्वर ही, वैसे ही अन्तःकरणादि जीवाविद्याके ही परिणाम हैं, अतः इनका उपादान जीव ही है; और 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' यह श्रुति तो जब तत्त्ववित् पुरुष मरता है तब पास बैठे हुए लोग भूतोंमें लय देखते हैं—ऐसा परदृष्टिके आशयसे कहती है, यह सब कलाप्रलयाधिकरणभाष्यमें स्पष्ट किया गया है; इस प्रकार वेदान्तैकदेशीका मत दिखलाते हैं—'अन्तःकरण०' इत्यादिसे ।

जीवाश्रित अविद्यामात्रका परिणाम होनेसे अन्तःकरणादिकी योनि—उपादान—केवल जीव ही है, पूर्वपद्यमें उक्त जीव और ईश्वर दोनों नहीं, ऐसा कुछ वेदान्तैकदेशी कहते हैं ॥ २० ॥

इस विषयमें माया और अविद्याका अभेद माननेवालोंका मत दिखलाते हैं—'तदभेद०' इत्यादिसे ।

अन्तःकरण आदिमें जीवतादात्म्यका अनुभव होनेसे और अध्यासभाष्यमें जीवमें ही उनके अध्यासका वर्णन होनेसे अन्तःकरणादिका उपादान जीव ही है, ऐसा माया और अविद्याका अभेद माननेवालोंमें से कई एक कहते हैं ॥ २१ ॥

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥

(इसीसे—ब्रह्मसे—प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और इस विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी सब उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्चका उपादान ब्रह्म ही है और जीव तो प्रातिभासिक तथा स्वप्नप्रपञ्चका उपादान है—ऐसा मतान्तर दिखलाते हैं—'इतरे तु' इत्यादिसे ।

स्वस्मिन्नेव स्वप्नवदीशानत्वादिसर्वकल्पनया ।
जीवः सर्वविकारोपादानमिति ब्रुवन्त्यन्ये ॥ २३ ॥

जगदुपादानत्वे कार्त्स्न्येन जगदाकारपरिणामे जगद्व्यतिरेकेण ब्रह्माभावप्रसङ्गः । तदेकदेशेन तदुक्तौ निरवयवत्वश्रुतिव्याकोप इत्याक्षेपपरिहाराया्ऽऽश्रिते विवर्तवादे तन्निर्वतनार्थम् 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इति सूत्रेण जैवस्वप्नसर्गस्य सिद्धवत्कारादिति भावः ॥ २२ ॥

'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्' इति श्रुतेर्जीव

अन्यमतावलम्बी यों कहते हैं कि जितना व्यवहारसिद्ध विश्व—प्रपञ्च—है, उसका उपादान तो ब्रह्म ही है; और प्रातिभासिक प्रपञ्चका जीव उपादान है। ब्रह्मको जगत्का उपादान कहनेमें ब्रह्म जगत्का परिणामी उपादान है, ऐसा अभिप्राय नहीं है; क्योंकि यदि ब्रह्मका जगदाकार परिणाम हो, तो प्रश्न होगा कि क्या समग्र ब्रह्म जगदाकारमें परिणत होता है या उसका एकदेश ? इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि समग्र ब्रह्मके जगदाकारसे परिणत होनेपर तो जगत्से अतिरिक्त ब्रह्मके अभावका प्रसङ्ग आ जायगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि एकदेशसे परिणाम मानेंगे तो ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिये उक्त प्रकारके आक्षेपका परिहार करनेके लिए विवर्त्तवादका आश्रय लिया गया है। उसकी सिद्धिके लिए 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (ब्र० सू० २।१।२८) इस सूत्रसे स्वप्नसृष्टि जीवकर्तृका है, ऐसा सिद्ध किया है। इस सूत्रमें अकेले ब्रह्ममें स्वरूपका उपमर्दन हुए बिना अनेक आकारकी सृष्टि कैसे हो सकती ? ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्वप्नद्रष्टा एक ही आत्मामें, स्वरूपका उपमर्दन हुये बिना, अनेकाकार सृष्टि श्रुतिमें कही गई है—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) (स्वप्नमें न तो रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले घोड़े हैं, न मार्ग हैं, तो भी रथकी, रथमें जोते जानेवाले घोड़ोंकी और मार्गकी सृष्टि करता है) अपि च देवादिमें और मायावी पुरुषोंमें अपने स्वरूपका जरा भी उपमर्द हुए बिना हस्ती, अश्व आदि अनेक प्रकारकी विचित्र सृष्टि देखनेमें आती है, वैसे ही एक ही ब्रह्ममें, स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी उपमर्दन हुए बिना, अनेकाकार सृष्टि होनेमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है ॥ २२ ॥

जीव ही सब प्रपञ्चका उपादान है, यों माननेवालेका मत दिखलाते हैं—'स्वस्मिन्' इत्यादि।

'जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन पुरोंमें जो जीव क्रीडा कर रहा है, उस

अथ तत्त्वनिर्णयकृतः परिणामितया विवर्तमानतया ।
माया ब्रह्म च विश्वोपादानं श्रुतित इत्याहुः ॥ २४ ॥

संक्षेपाचार्यास्तु ब्रह्मैवाऽशेषजगदुपादानम् ।
द्वारतया मायायाः कार्येष्वनुवृत्तिरित्याहुः ॥ २५ ॥

एव स्वप्नसृष्टगजादिवत् स्वस्मिन्नेवेश्वरत्वादिसर्वकल्पकत्वेन सर्वप्रपञ्चोपादानमिति मतान्तरमाह—स्वस्मिन्नेवेति ॥ २३ ॥

ननु उक्तरीत्या ब्रह्मण एव जगदुपादानत्वे 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिश्रुतेः का गतिरित्याशङ्क्य श्रुतिद्वयानुरोधात् कार्ये सत्ताजाड्योभयधर्मानुवृत्तिदर्शनाच्च ब्रह्म विवर्तोपादानं माया तु परिणाम्युपादानमिति मतेनोत्तरमाह—अथेति । अत एव स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानलक्षणमुभयसाधारणमिति भावः ॥ २४ ॥

ब्रह्मैव सकलजगदुपादानम्; कूटस्थस्य स्वतः कारणत्वायोगेन मायाद्वारा ।

जीवसे यह सकल विचित्र प्रपञ्च उत्पन्न होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे जीव स्वप्नसृष्ट गजादिकी नाईं अपनेमें ईश्वरत्वादिकी कल्पना द्वारा सब प्रपञ्चका उपादान बनता है, ऐसा अन्य मतवादी कहते हैं ॥ २३ ॥

उक्त रीतिसे ब्रह्म ही यदि जगत्का उपादान कारण माना जाय, तो 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति—उपादान—जानना और मायी महेश्वरको समझना) इत्यादि श्रुतिकी क्या गति होगी ? ऐसी आशंका करके दोनों श्रुतियोंके अनुरोधसे और कार्यमात्रमें सत्ता और जाड्य दोनों धर्मोंकी अनुवृत्ति दीखती है, इससे ब्रह्मको विवर्त्तोपादान और मायाको परिणामी उपादान मानना चाहिए, इस मतसे उस शङ्काका उत्तर देते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

तत्त्वनिर्णय ग्रन्थके कर्त्ताका मायाको विश्वका परिणामी उपादान और ब्रह्मको विवर्त्तोपादान मानना एवं मायाशबल ब्रह्मको विश्वका उपादानकारण मानना श्रुतिसम्मत है । अतएव (ऐसा माननेसे) 'स्वाभिन्नकार्यजनकत्व' (अपनेसे अभिन्न कार्यको उत्पन्न करना) ऐसा जो उपादानका लक्षण है, वह उभयसाधारण अर्थात् माया और ब्रह्म दोनोंमें साधारणरूपसे समन्वित होता है ॥ २४ ॥

ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत्का उपादान है, परन्तु ब्रह्म स्वयं कूटस्थ तथा अविचालि अनपायोपजनविकारि अर्थात्—चलनादि क्रियारहित तथा वृद्धि, ह्रास एवं विकाररहित है, इसलिए ब्रह्ममें स्वतः उपादानकारणत्व नहीं बनता, अतः माया द्वारा उपादान

वाचस्पतिमिश्रास्तु स्वत एव ब्रह्म जगदुपादानम् ।
सहकारिण्यपि माया न कार्यमनुगच्छतीत्याहुः ॥ २६ ॥

मायैवोपादानं ब्रह्म तदाधारभूततया ।
गौण्योपादानमिति प्राहुर्मुक्तावलीकाराः ॥ २७ ॥

माया तु द्वारकारणम् । तस्या अपि कार्येष्वनुवृत्तिः संभवति, मृच्छ्लक्ष्णताया घटादावनुवृत्तिदर्शनादिति मतान्तरमाह—संक्षेपाचार्यास्त्विति ॥ २५ ॥

जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्तमानतयोपादानम् । माया तु सहकारिमात्रम् । तथाविधाऽपि न कार्यमनुगच्छतीति मतान्तरमाह—वाचस्पतीति । माया न द्वारकारणम्, अनुपादानगतत्वात् । किन्तु सहकारिमात्रम् । अतो न कार्यमनुगच्छतीति भावः ॥ २६ ॥

अत्र मतद्वयेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादौ प्रकृतिशब्दो गौणः

मानना युक्त होता है, ऐसा माननेवालेका मत प्रदर्शित करते हैं—'संक्षेपाचार्या०' इत्यादिसे ।

संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञाचार्य यों कहते हैं कि ब्रह्म ही अशेष जगत्का उपादान है, और माया तो द्वाररूपसे उपादान कारण है, इसलिए कार्योंमें उसकी भी अनुवृत्ति हो सकती है; जैसे कि मृत्तिकाकी श्लक्ष्णताकी घटादिमें अनुवृत्ति होती है ॥ २५ ॥

इस विषयमें वाचस्पतिमिश्रका मत दिखलाते हैं—'वाचस्पति०' इत्यादिसे ।

[सर्वज्ञ महामुनिने संक्षेपशारीरकमें मायाका विषय और आश्रय ब्रह्मको ही कहा है, क्योंकि उनका कहना है—'अहं ब्रह्म न जानामि' इस वाक्यमें 'न जानामि' इतना अज्ञानका आकार है, उसमें अज्ञानका विषय शुद्ध ब्रह्म है और अहंतादात्म्यापन्न ब्रह्म आश्रय है । जीव स्वयं अविद्याका कार्य होनेसे उसका न तो आश्रय हो सकता है और न विषय हो सकता है । इस विषयमें वाचस्पतिमिश्रका ऐसा मत है कि अज्ञानका विषय ब्रह्म है और आश्रय जीव है, क्योंकि 'अहं ब्रह्म न जानामि' इत्यादि प्रतीतिमें अज्ञान अहंपदोपात्त जीवका आश्रित होकर ब्रह्मको विषय करता है । अतः इस मतके अनुसार कहते हैं—] जीवाश्रित मायाका (अज्ञानका) विषयीभूत जो ब्रह्म है, वही स्वयं जड़ प्रपंचके आकारमें विवर्त्तमान होकर उपादान बनता है, माया तो केवल सहकारिणी है । सहकारिणी होनेपर भी वह कार्यमें अनुगत नहीं होती अर्थात् माया द्वार कारण नहीं है, क्योंकि वह उपादानमें नहीं रहती, किन्तु सहकारी कारणमात्र है, इससे मायाका कार्योंमें अनुगम नहीं होता ॥ २६ ॥

इस विषयमें वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकारका मत कहते हैं—'मायैव' इत्यादिसे ।

३. जीवेश्वरस्वरूपनिर्णयवादः

जीवेशयोः स्वरूपं निरूप्यतेऽस्यामविद्यायाम् ।
चित्प्रतिबिम्बो जीवो मायायां तावदीश इति ॥ २८ ॥

स्यादिति मतान्तरमाह—**मायैवेति** । मायैव मुख्यया वृत्त्योपादानम् । ब्रह्म तु उपादानमायाधारतया गौण्योपादानम्, न मुख्यतः । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति श्रुतेस्तन्निषेधपरत्वात् । इत्यतस्तादृशमेवोपादानत्वं लक्षणमिति भावः ॥ २७ ॥

इत्थं मतभेदेन जीवेश्वरावुपादानमिति व्यवस्थाप्य तयोः स्वरूपं निरूपयितुमाह—जीवेति ॥ २८ ॥

केवल माया ही मुख्य वृत्तिसे प्रपञ्चकी उपादान है, ब्रह्म तो मायाका आधारभूत होनेसे गौणी वृत्तिसे प्रपञ्चका उपादान कहलाता है; ऐसा मुक्तावलीकार कहते हैं। अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त संक्षेपाचार्य और वाचस्पतिके मतमें 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इस श्वेताश्वतरकी श्रुतिमें उक्त प्रकृतिशब्द गौण हो जाता है, इसलिए मायामें मुख्यत्वरूपसे उपादानत्वका प्रतिपादन करनेवाले मुक्तावलीकार कहते हैं कि मुख्यवृत्तिसे माया ही उपादान है और ब्रह्म तो उपादानभूत मायाका आश्रय होनेसे गौणी वृत्तिसे उपादान कहा जाता है, मुख्यवृत्तिसे नहीं; क्योंकि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (इस—ब्रह्म—का कोई कार्य या करण नहीं है) यह श्रुति ब्रह्ममें वास्तव कार्यकारणभावका निषेध करती है, अतः ब्रह्ममें ऐसा ही (गौण ही) उपादानत्व मानना उचित है ॥ २७ ॥

उक्त प्रकारसे जीव और ईश्वरकी उपादानताकी मतभेदसे व्यवस्था दर्शाकर अब जीव और ईश्वरके स्वरूपनिरूपणमें मतभेद दिखलाते हैं—'जीवे०' इत्यादिसे ।

जीव और ईश्वरके स्वरूप-निरूपणके प्रसंगमें [पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य मुनिका मत ऐसा है कि] अविद्यामें जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह जीवशब्दसे कहा जाता है और मायामें जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वरशब्दसे कहा जाता है। [जीव अविद्याके वशमें रहता है और ईश्वर मायाको अपने वशमें रखता है, इतना विशेष है] ॥ २८ ॥

मूलप्रकृतिर्माया तस्याः शक्तिद्वयोपेतः ।
अंशो भवेदविद्येत्युक्तं प्रकटार्थविवरणग्रन्थे ॥ २९ ॥

तत्त्वविवेके तूक्तं सत्त्वेन रजस्तमोभ्यां च ।
एकैव मूलयोनिर्मायाऽविद्या च भवतीति ॥ ३० ॥

एका मूलप्रकृतिर्विक्षेपावरणशक्तिभेदेन ।
मायाऽविद्येति भिदां यातीत्युपपादितं क्वचिद्ग्रन्थे ॥ ३१ ॥

मायाविद्ययोः स्वरूपं दर्शयति—मूलेति । अनाद्यनिर्वाच्या चित्संबधिनी मूलप्रकृतिर्माया । तस्या एवैकदेशो विक्षेपावरणशक्तिमानविद्येत्यर्थः ॥ २९ ॥

'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' इति श्रुतेः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकैव मूलप्रकृतिः प्रधानभूतेन सत्त्वेन माया, प्रधानभूताभ्यां रजस्तमोभ्यामविद्या च भवतीति मायाविद्यास्वरूपं मतान्तरेण दर्शयति—तत्त्वेति ॥ ३० ॥

एकैव मूलप्रकृतिर्विक्षेपशक्तिप्राधान्येन माया, आवरणशक्तिप्राधान्येनाऽविद्येति मतान्तरमाह—एकेति ॥ ३१ ॥

माया और अविद्याका स्वरूप दर्शाते हैं—'मूल०' इत्यादिसे ।

अनादि और अनिर्वाच्या चित्सम्बन्धिनी मूल प्रकृति माया कहलाती है। उसीका एकदेश जो विक्षेपशक्ति और आवरणशक्तिसे युक्त है, उसको अविद्या कहते हैं, ऐसा प्रकटार्थविवरण ग्रन्थमें कहा गया है ॥ २९ ॥

'तत्त्व०' इत्यादि । तत्त्वविवेक ग्रन्थमें तो 'माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति' (माया और अविद्या स्वयं ही होती हैं) इस श्रुतिसे मूल प्रकृति—सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूल प्रकृति—ही सत्त्वगुणकी प्रधानतासे माया कहलाती है और रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रधानतासे अविद्या कहलाती है, इस प्रकार माया और अविद्याका स्वरूप दर्शाया है ॥ ३० ॥

'एका' इत्यादि । एक ही मूल प्रकृति अपनी विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे माया कहलाती है और आवरणशक्तिकी प्रधानतासे अविद्या कहलाती है, ऐसा किसी ग्रन्थमें उपपादन किया गया है; अर्थात् २९वें श्लोकमें स्वयं मूलप्रकृतिको माया और विक्षेप और आवरण दोनों शक्तियोंसे युक्त उसके अंशको अविद्या कहा है और इस श्लोकमें मूल प्रकृति ही विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे माया और आवरणशक्तिकी प्रधानतासे अविद्या कही गई है; इस प्रकार दोनों मतोंमें विशेष है ॥ ३१ ॥

संक्षेपके त्वविद्या चित्प्रतिबिम्बो भवेदीशः ।
तत्कार्यान्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बस्तु जीव इत्युक्तम् ॥ ३२ ॥

धीवासनोपरक्ताज्ञानं धीश्चेत्युपाधियुगे ।
प्रतिबिम्बौ जीवेशाविति भेदश्चित्रदीपोक्तः ॥ ३३ ॥

विवरणदर्शनमेतदविद्याप्रतिबिम्बलक्षणो जीवः ।
तद्बिम्बभूत ईशस्तस्मादुभयोर्विभाग इति ॥ ३४ ॥

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतिमाश्रित्य मतान्तरमाह—संक्षेपके त्विति । अविद्याचित्प्रतिबिम्बः अविद्यायां चित्प्रतिबिम्बः इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माश्रिते सकलप्राणिधीवासनोपरक्तेऽज्ञाने प्रतिबिम्बितचैतन्यमीश्वरः, स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयाधिष्ठानकूटस्थकल्पितेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति तयोर्भेदं मतान्तरेण दर्शयति—धीवासनेति । उपाधियुगे उपाधिद्वये जीवेशाविति व्युत्क्रमेणाऽन्वयः ॥ ३३ ॥

जीवो नाऽन्तःकरणप्रतिबिम्बः, योगिनां कायव्यूहे 'प्रदीपवदावेशस्तथाहि

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'—(कार्यरूप—अन्तःकरणरूप—उपाधिवाला यह जीव है और कारणरूप—मूलाविद्यारूप—उपाधिवाला ईश्वर है) इस श्रुतिसे निरूपित मतान्तर दर्शाते हैं—'संक्षेपके' इत्यादिसे ।

संक्षेपशारीरकमें अविद्यामें चित्का जो प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर है और उसके कार्य अन्तःकरणमें जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह जीव है, ऐसा कहा गया है ॥ ३२ ॥

सकल प्राणियोंकी बुद्धि-वासनाओंसे उपरक्त ब्रह्माश्रित अज्ञानमें जो प्रतिबिम्ब है, वह तो ईश्वर है और बुद्धिरूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, ऐसे व्युत्क्रमसे अन्वय करना चाहिये । यहाँ केवल बुद्धिके स्थानमें स्थूल तथा सूक्ष्म—इन दोनों देहोंकी कल्पनाके अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्यमें कल्पित अन्तःकरणको समझना चाहिये; इस रीतिसे जीव और ईश्वरके भेदका चित्रदीपप्रकरणमें विद्यारण्यमुनिने निरूपण किया है ॥ ३३ ॥

इस विषयमें विवरणकारका मत कहते हैं—'विवरण०' इत्यादिसे ।

जीवको अन्तःकरण-प्रतिबिम्ब मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जब योगी कायव्यूह (एक समयमें अनेक शरीर धारण) करता है, तब 'प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति'

वाचस्पतिमतरीतिस्त्वन्तःकरणेन यदनवच्छिन्नम् ।
चैतन्यं तज्जीवः स्यादनवच्छिन्नचैतन्यमीश इति ॥ ३५ ॥

वार्तिककृन्मतमित्थं न प्रतिबिम्बो न चाऽप्यवच्छिन्नः ।
ब्रह्मैवाऽविद्यातः संसरतीवाऽथ मुच्यत इवेति ॥ ३६ ॥

दर्शयति' इत्यधिकरणभाष्येऽन्तःकरणभेदे सत्यपि जीवभेदाभावस्योपपादितत्वात् । ईश्वरोऽपि नाऽविद्याप्रतिबिम्बः, तत्पारतन्त्र्यापत्तेः । किन्तु अविद्याप्रतिबिम्बलक्षणो जीवः, तद्बिम्बभूत ईश्वर इति तयोर्विभाग इति मतान्तरमाह—विवरणेति ॥ ३४ ॥

ईश्वरो जीवश्च न प्रतिबिम्बः, नीरूपत्वेन चैतन्यस्य प्रतिबिम्बायोगात्, सलिले गगनप्रतिबिम्बस्य भ्रान्तिमात्रत्वात् । किन्तु घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः, तदनवच्छिन्नं चैतन्यं त्वीश्वर इति मतान्तरमाह—वाचस्पतीति । अन्तः-करणेन यदनवच्छिन्नं चैतन्यं तदीश इत्यन्वयः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यते' इति बृहदारण्यकभाष्योक्तेः जीवो न प्रतिबिम्बः नाऽप्यवच्छिन्नः; किन्तु व्याधकुलसंवर्धितराजकुमारवदविकृतमेव

(ब्र० सू० ४ । ४ । १५) इस अधिकरणके भाष्यमें—अन्तःकरणका भेद होनेपर भी जीवभेद नहीं होता, ऐसा उपपादन किया गया है । किञ्च, ईश्वरको भी अविद्याप्रतिबिम्ब माननेसे ईश्वरके अविद्यापरतंत्र हो जानेकी आपत्ति आती है, इन सब आपत्तियोंका परिहार सोचकर विवरणाचार्य प्रकाशात्म श्रीचरणने निर्णय किया है कि जीव अविद्याप्रतिबिम्बस्वरूप है और ईश्वर इस प्रतिबिम्बके प्रति बिम्बभूत है; ऐसा जीव और ईश्वरका विभाग है ॥ ३४ ॥

यह बिम्ब-प्रतिबिम्बादि कल्पना केवल प्रक्रिया समझानेके लिए की जाती है, वास्तवमें वह युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्यके नीरूप होनेसे जीव और ईश्वर उसके प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते, यदि कोई कहे कि नीरूप गगनका जलमें प्रतिबिम्ब दीखता है, तो यह कथन भ्रन्तिमात्र है—यों प्रतिबिम्बवादके युक्तिसंगत न होनेसे मतान्तर दर्शाते हैं—'वाचस्पति०' इत्यादिसे ।

भामतीकार श्रीवाचस्पतिका मत इस प्रकारका है कि अन्तःकरणसे अवच्छिन्न जो चैतन्य है वह जीव है और महाकाशस्थानीय अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है; अर्थात् घटाकाशवत् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है और अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है ॥ ३५ ॥

वार्त्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यका मत दर्शाते हैं—'वार्तिक०' इत्यादिसे ।

४. जीवैकत्वनानात्ववादः

अथ जीवः किमु नाना किमुतैकस्तत्र जीव एकोऽसौ ।
एकं वपुः सजीवं तद्भिन्नं स्वप्नतुल्यमिति केचित् ॥ ३७ ॥

एको हिरण्यगर्भो ब्रह्मप्रतिबिम्ब एव स्यात् ।
अन्ये तत्प्रतिबिम्बा जीवाभासा भवेयुरित्यपरे ॥ ३८ ॥

ब्रह्माऽविद्यया संसरति विद्यया विमुच्यत इवेति मतान्तरमाह—वार्तिककृदिति। एवं च न परमार्थे बन्धमुक्ती स्तः, 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धः' इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं जीवधर्मिणि निर्णीते तद्धर्मिसंख्याविषये संशयमुपन्यस्याऽनुपदोक्तमतानुसारेण द्वितीयं पक्षं दर्शयति—अथेति । एको जीवः तेन चैकमेव शरीरं सजीवं तदन्यच्छरीरजातं स्वप्नदृष्टशरीरजातवन्निर्जीवमित्यर्थः । तदीयः सर्वोऽपि व्यवहारः स्वाप्निकव्यवहारवदुपपद्यते इति भावः ॥ ३७ ॥

'यः सर्वज्ञः' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् बिम्बभूतब्रह्मसृष्ट एव प्रपञ्चः । तत्र प्रथम उपाधौ ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो हिरण्यगर्भ एव मुख्यो जीवः । अन्ये तु तत्प्रतिबिम्ब-

---

वार्त्तिककारका मत इस प्रकारका है कि जीव न तो प्रतिबिम्ब है और न अवच्छिन्न है, किन्तु स्वयं अविकृत ब्रह्म ही अविद्यावश जीवेश्वरादिभावसे संसारिताको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है और विद्यासे मुक्त हुआ-सा प्रतीत होता है, अर्थात्—व्याधकुलमें संवर्धित राजकुमारको 'तू तो राजकुमार है' इस प्रकारके ज्ञाताके उपदेशसे जैसे व्याधपुत्रताका बाध होकर राजपुत्रत्वका बोध होता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि गुरूपदेशसे ब्रह्मात्मतावगति होती है, यों अजातवाद ही वास्तव है अर्थात् वास्तवमें न बन्ध है और न मुक्ति है ॥ ३६ ॥

उक्त प्रकारसे जीवरूप धर्मीका निर्णय करके अब इस धर्मीकी संख्याके विषयमें सन्देह कर पीछे कहे गये मतोंके अनुसार द्वितीय पक्ष दर्शाते हैं—'अथ जीवः' इत्यादिसे ।

जीव एक है और इस जीवसे एक ही शरीर सजीव है; उससे अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर स्वप्नदृष्ट शरीरोंकी नाईं निर्जीव हैं, तथापि इन सब शरीरोंका व्यवहार स्वाप्निक व्यवहारके सदृश हो सकता है, ऐसा कई एकका मत है, [वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' कारका यह एकजीववाद है] ॥ ३७ ॥

इसी एकजीववादमें पक्षान्तर दर्शाते हैं—'एकः' इत्यादिसे ।

एको जीवः सर्वं स्वशरीरं मन्यते तदपि ।
सुखदुःखसङ्करोऽस्मिन् शरीरभेदान्न संभवीत्येके ॥ ३९ ॥

इतरे त्वन्तःकरणोपाधिभिराश्रित्य जीवनानात्वम् ।
श्रुत्यैव बन्धमुक्तिव्यवस्थितिं प्रत्यपद्यन्त ॥ ४० ॥

भूताश्चित्रपटलिखितमनुष्यदेहार्पितपटाभासकल्पा जीवाभासा इति सविशेषानेक-शरीरैकजीवपक्षमाह—एक इति । एकः मुख्य इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

हिरण्यगर्भाणां प्रतिकल्पं भेदात् कतमो हिरण्यगर्भो मुख्य इत्यत्र विनिगमकाभावादेक एवाऽविशेषेण योगीव सर्वं स्वशरीरमभिमन्यते । तथात्वे त्वस्मिन् पक्षे न परस्परसुखाद्यनुसंधानं प्रसज्यते, शरीरभेदात्, जन्मान्तरीय-सुखाद्यनुसंधानवदिति मतान्तरमाह—एक इति । सुखदुःखसङ्करः सुखदुःखाद्यनुभव इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अस्मिन्नेकजीववादे बन्धमुक्तिव्यवस्थाया असिद्धेः अन्तःकरणोपाधिभेदेन

'यः सर्वज्ञः' (जो सर्वज्ञ है) इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणोंसे बिम्बभूत ब्रह्मसे ही इस प्रपञ्चकी सृष्टि हुई है । और इस सृष्टिमें प्रथम उपाधिमें ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप जो प्रथमज (हिरण्यगर्भ) हुआ, वही मुख्य जीव है और अन्य तो इस हिरण्यगर्भके प्रतिबिम्बभूत जीवाभास हैं जैसे चित्रपटमें आलिखित मनुष्यकी देहपर निर्मित वस्त्राभास होते हैं, इसलिए सविशेष अनेक शरीरोंमें जीव एक ही है और सब जीवभास हैं, ऐसा अन्य मत है ॥ ३८ ॥

पूर्व पद्यमें हिरण्यगर्भको मुख्य जीव बतलाया, किन्तु हिरण्यगर्भ तो प्रत्येक कल्पमें भिन्न होते हैं, इनमेंसे कौन हिरण्यगर्भ मुख्य है, इस विषयमें कोई विनिगमक (निर्णायक युक्ति) नहीं है, अतः उस मतमें अरुचिबीज पाकर मतान्तर कहते हैं— 'एको जीवः' इत्यादिसे ।

एक ही जीव योगीकी नाईं समानरूपसे सब शरीरोंमें आत्मीयत्वकी भावना कर अभिमानी होता है; इसीसे इस पक्षमें परस्पर सुखादिके अनुभवका अनुसन्धान होनेका प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि शरीरका भेद है । जैसे अन्य जन्मके सुखादिका अनुसन्धान नहीं होता, वैसे यहाँ भी शरीरभेद होनेके कारण एकके सुखादिका अनुभव दूसरेको नहीं होता ॥ ३९ ॥

एकजीववादमें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं होती, इससे मतान्तर दर्शाते हैं—'इतरे तु' इत्यादिसे ।

तेषु च केचिदवोचन् ब्रह्माश्रयविषयमेकमज्ञानम् ।
अंशेन तस्य नाशे मुक्तिर्भवतीति तद्व्यवस्थेति ॥ ४१ ॥

हृदयग्रन्थिनियम्योऽविद्यासंसर्गलक्षणो बन्धः ।
हृदयग्रन्थिविनाशे विनश्यतीति व्यवस्थितिं केचित् ॥४२॥

जीवनानात्वमाश्रित्य 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इति श्रुति-दर्शितबन्धमुक्तिव्यवस्थितिं प्रतिपन्नानां केषांचिन्मतमाह—इतरे त्विति ॥४०॥

एकमेवाऽज्ञानं ब्रह्माश्रयविषयकम्, तस्य च तांस्तान् जीवान् प्रति ब्रह्मावारका भागा भिद्यन्ते । एकैकस्य जीवस्य ज्ञानोदयेनाऽज्ञाननाशे बन्धनिवृत्त्या मुक्तिरिति बन्धमुक्तिव्यवस्थामुपगच्छतां जीवभेदवादिष्वेकदेशिनां मतमाह—तेषु चेति ।

न्यायैकदेशिमतेऽत्यन्ताभावस्य भूतलादिवृत्तित्वे प्रतियोगिसंसर्गाभाव इवाऽविद्यायाश्चैतन्यवृत्तित्वे हृदयग्रन्थिर्नियामकः, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इति श्रुतेः ।

अन्य कई एक तो अन्तःकरणरूप उपाधिके प्रत्येक शरीरमें भिन्न होनेसे तदुपहित (अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त) चेतनरूप जीवमें भी नानात्व (अनेकत्व) मानकर 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (देवोंमें से जो जो प्रतिबुद्ध (ब्रह्मसाक्षात्कारवान्) हुए वे ही ब्रह्म हुए) इस श्रुतिमें प्रदर्शित बन्ध और मुक्तिकी व्यवस्था करते हैं ॥ ४० ॥

जीवनानात्ववादियोंमें एक अज्ञान माननेवाले एकदेशीका मत कहते हैं—'तेषु च' इत्यादिसे ।

उन नाना जीववादियोंमें भी कई एकने तो यों कहा है कि एक ही अज्ञान ब्रह्ममें रहता है और ब्रह्मको ही विषय करता है, किन्तु इस अज्ञानके उन-उन जीवोंके प्रति ब्रह्मके आवारक (आवरण करनेवाले) अंश अनेक हैं, अतः एक एक जीवको ज्यों ज्ञानोदय होता है त्यों ही ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर बन्धनिवृत्तिसे मुक्ति हो जाती है । इस प्रकार जीवभेदवादीके मतमें बन्ध और मुक्तिकी व्यवस्था हो सकती है ॥ ४१ ॥

न्यायके एकदेशीके मतमें जैसे अत्यन्ताभावको भूतलादिवृत्ति माननेमें प्रतियोगिसंसर्गाभावको नियामक कहते हैं और जब भूतलमें प्रतियोगीके संसर्गका उदय होता है तब घटात्यन्ताभावका संसर्ग निवृत्त हो जाता है वैसे ही अविद्यालक्षण बन्ध विद्यासे निवृत्त होता है, ऐसा मतान्तर कहते हैं—'हृदय०' इत्यादिसे ।

जीवाश्रयमज्ञानं जातिर्नष्टामिव व्यक्तिम् ।
तत्त्वविदं त्यजतीतरमाश्रयतीति व्यवस्थितिं केचित् ॥ ४२ ॥

ज्ञानेन हृदयग्रन्थिविनाशे प्रतियोगिसंसर्गोदये भूतले घटात्यन्ताभावस्य संसर्ग इवाऽविद्यायाश्चित्संसर्गरूपो बन्धो नश्यतीत्याशयेन बन्धमुक्तिव्यवस्थितिं मतान्तरेणाऽऽह—हृदयेति ॥ ४२ ॥

न ब्रह्माश्रयमज्ञानम्, किन्तु जीवाश्रयम् । तच्च प्रतिजीवं परिसमाप्य वर्तमानं

अविद्याके चैतन्यवृत्तित्वमें हृदयग्रन्थि नियामक है, यह 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (हृदयकी चिदचिद् ग्रन्थि छूट जाती है) इस श्रुतिसे विदित है। बन्ध हृदयग्रन्थिजनित अविद्यासंसर्गरूप है। जैसे प्रतियोगीका सम्बन्ध होनेपर भूतलमें घटात्यन्ताभावका संसर्ग नष्ट हो जाता है वैसे ही ज्ञानसे उस हृदयग्रन्थिका नाश होनेपर अविद्याका चैतन्यसंसर्गरूप बन्ध नष्ट हो जाता है, वही मुक्ति है, इस रीतिसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था कई एक करते हैं ॥ ४२ ॥

ब्रह्मको अज्ञानका आश्रय और विषय माननेवाले सङ्क्षेपशारीरककार* सर्वज्ञाचार्य आदिका मत कहा, अब ब्रह्म अज्ञानका विषय ही है, आश्रय नहीं है। आश्रय तो जीव है, क्योंकि 'अहं ब्रह्म न जानामि' (मैं ब्रह्मको नहीं जानता) इस प्रतीतिसे ब्रह्म अज्ञानका विषय ही सिद्ध होता है और उसका आश्रय 'मैं' पद निर्देश्य जीव है, यों माननेवाले वाचस्पतिमिश्रके † मतके अनुसार व्यवस्था दिखलाते हैं—'जीवाश्रय०' इत्यादिसे ।

---

* आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला । पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥ (सं० शा० अ० १ श्लो० ३१९) निर्विभाग (जीवेश्वरादि-विभागसे शून्य) केवल (शुद्ध) चैतन्य ही अविद्याका आश्रय और विषय होता है; क्योंकि पूर्वसिद्ध तमका (अविद्याका) पश्चिम (पश्चाद्भावी जीव) आश्रय या विषय हो ही नहीं सकता, ऐसा संक्षेपशारीरककारका वचन इस अर्थमें प्रमाण है ।

रत्नप्रभाकार रामानन्दने भी 'विकरणत्वान्नेति०' (ब्र० सू० २।१।३१) इस सूत्रकी व्याख्यामें 'शारीरस्य कल्पितस्याऽऽश्रयत्वायोगान्निर्विशेषचिन्मात्रस्यैव मायाधिष्ठानत्वं युक्तम्' अर्थात् माया-कल्पित जीव मायाका आश्रय नहीं हो सकता, इससे निर्विशेष चिन्मात्रको ही मायाका आश्रय मानना उचित है, ऐसा कहा है ।

† 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र० सू० १।२।१) इस अधिकरणमें 'स्मृतेश्च' (१।२।६) इस सूत्रके भाष्यकी भामतीमें 'अनाद्यविद्यावच्छेदलब्धजीवभावः पर एवाऽऽत्मा स्वतो भेदेनाऽवभासते, तादृशां च जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मणः' अर्थात् अनादि अविद्यासे अवच्छिन्न होनेके कारण जिसे जीवभाव प्राप्त हुआ है, ऐसा परमात्मा ही स्वतः भेदसे भासता है; उन जीवोंकी ही अविद्या है; निरुपाधिक ब्रह्मकी नहीं, ऐसा कहा है और जीव तथा अविद्या दोनोंके अनादि होनेसे बीजाङ्कुरके समान कल्पित होनेके कारण अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं होता, ऐसा परिहार भी किया है ।

प्रतिजीवमविद्याया भेदं स्वीकृत्य केचिदेतस्याः ।
अनुवृत्तिनिवृत्तिभ्यामुपपन्ना सा व्यवस्थेति ॥ ४४ ॥

नन्वेतस्मिन् पक्षे कस्याऽविद्याकृतः प्रपञ्चः स्यात् ।
विनिगमकाभावादिह सर्वाविद्याकृतः स इत्येके ॥ ४५ ॥

नष्टां व्यक्तिं जातिरिव तत्त्वविदं त्यजति । स एव मोक्षः । अन्यं यथापूर्वमाश्रयतीति तद्व्यवस्थां मतान्तरेणाऽऽह—जीवाश्रयमिति ॥ ४३ ॥

नानाविद्यापक्षेऽपि बन्धमुक्तिव्यवस्थां केषांचिन्मतेनाऽऽह—प्रतिजीवमिति ॥ ४४ ॥

नन्वस्मिन् पक्षे कस्याऽविद्यया प्रपञ्चः कृतोऽस्त्वित्याशङ्क्य विनिगमनाविरहात् सर्वाविद्याकृतः, अनेकतन्त्वारब्धपटवत्, इति केषांचिन्मतेनोत्तरमाह—नन्विति । एवं

अज्ञान ब्रह्माश्रित नहीं है, किन्तु जीवाश्रित है और वह गोत्वादिके समान प्रत्येक जीवको व्याप्त करके रहता है, अतः जैसे नष्ट व्यक्तिको जाति छोड़ देती है, वैसे ही यह अज्ञान भी तत्त्वविद् जीवका त्याग कर देता है। यही उस जीवकी मुक्ति है। और अन्य जीवोंको वह पूर्ववत् अपना आश्रय बना रखता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था कई एक करते हैं ॥ ४३ ॥

यह तो अविद्याका एकत्व माननेवालोंके मतसे कहा, अब अविद्याका नानात्व माननेवालोंके पक्षमें भी जिस तरह बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था हो सकती है, उसका निरूपण करते हैं—'प्रतिजीवम्' इत्यादिसे ।

प्रत्येक जीवमें अविद्याका भेद मानकर उस अविद्याकी अनुवृत्ति जबतक बनी रहती है, तबतक बन्ध रहता है, और निवृत्ति होनेपर मोक्ष हो जाता है, यों कई एक बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाका उपपादन करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रत्येक जीवमें अविद्या भिन्न भिन्न माननेसे यह शङ्का हो सकती है कि किस जीवकी अविद्याने इस प्रपञ्चको बनाया ? अतः इस शङ्काका परिहार करते हैं—'नन्वेतस्मिन्' इत्यादिसे ।

भला बतलाइए कि इस अविद्यानानात्वपक्षमें इस प्रपञ्चका निर्माण किसकी अविद्याने किया ? इस शङ्काके उत्तरमें 'अमुक जीवकी अविद्याने किया' ऐसा कहनेमें कोई विनिगमक (एक पक्षकी साधक युक्ति) नहीं है, अतः इस प्रपञ्चको सभी जीवोंकी अविद्याओंने बनाया है, यही अन्ततोगत्वा स्वीकार करना पड़ेगा,

अन्ये तु संगिरन्ते तत्तदविद्याविनिर्मितं विश्वम् ।
प्रतिपुरुषमेव भिन्नं भवति यथा शुक्तिरजतमिति ॥ ४६ ॥

जीवगताज्ञानचयाद्भिन्ना मायेश्वराश्रिता जगतः ।
योनिर्जीवाविद्यास्त्वावरणायेति जगुरेके ॥ ४७ ॥

चैकतन्तुनाशे महापटस्येव तत्साधारणजगतो नाशे शेषतन्तुभिः पटान्तरस्येव जगदन्तरस्योत्पत्तिरिति भावः ॥ ४५ ॥

तत्तदज्ञानकृतप्रातिभासिकरजतादिवत् तत्तदविद्याकृतः प्रपञ्चः प्रतिपुरुषं भिन्न एवेति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । शुक्तिरजते त्वया यद् दृष्टं तदेव मयाऽपीत्यैक्यप्रत्ययो भ्रममात्रमिति भावः ॥ ४६ ॥

जीवाश्रिताविद्यानिवहाद्भिन्नेश्वराश्रिता मायैव प्रपञ्चस्य कारणम् । जीवानामविद्यास्त्वावरणमात्रे प्रातिभासिकशुक्तिरजतादिविक्षेप इवोपयुज्यन्त इति मतान्तरमाह—जीवगतेति ॥ ४७ ॥

यों कई एक अपने मतका समर्थन करते हैं । जैसे तन्तुओंसे निर्मित महापटके एक तन्तुका नाश होनेपर भी शेष तन्तुओंसे पटान्तरकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक अविद्याकी निवृत्तिसे तत्साधारण जगत्का नाश होनेपर भी शेष अविद्याओंसे अन्य जगत्की उत्पत्ति माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ४५ ॥

यह विश्व प्रत्येक जीवकी अविद्याका कार्य है, यों माननेवालोंका मत कहते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

जैसे शुक्तिरजत (अर्थात् शुक्तिमें प्रातिभासिक रजत) उन उन जीवोंकी अविद्यासे निर्मित होता है, वैसे ही तत्-तत् अविद्याकृत प्रतिपुरुष प्रपञ्च भिन्न ही है और 'शुक्तिरजतमें तुमने जो देखा, वही मैंने भी देखा' ऐसी जो ऐक्यप्रतीति होती है, वह भ्रममात्र है, ऐसा अन्य कहते हैं ॥ ४६ ॥

इसी विषयमें मतान्तर कहते हैं—'जीवगता०' इत्यादिसे ।

जीवाश्रित अविद्याओंका जो समुदाय है, उससे भिन्न ईश्वराश्रित जो दूसरी माया है, वही जगत्की (प्रपञ्चकी) योनि (उत्पत्तिकारण) है; और जीवाश्रित जो अविद्याएँ हैं, वे तो शुक्तिमें प्रातिभासिक रजतादि विक्षेपकी नाईं आवरणमात्रमें ही उपयुक्त होती हैं, ऐसा कई एक कहते हैं ॥ ४७ ॥

५. कर्तृत्ववादः

अथ कीदृगीश्वरस्य प्रपञ्चकर्तृत्वमिह केचित् ।
कार्यानुकूलभूतज्ञानचिकीर्षादिमत्त्वमिति ॥ ४८ ॥
अन्ये तु तदनुकूलज्ञानाश्रयतैव कर्तृतेत्याहुः ।
इतरे तु तदनुकूलस्रष्टव्यालोचनाश्रयत्वमिति ॥ ४९ ॥

इत्थं लक्षणोपोद्घाते लक्षणैकदेशमुपादानत्वं विचार्य तदेकदेशं कर्तृत्वं कीदृशमिति प्रश्ने 'तदैक्षत', 'सोऽकामयत', 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रवणात् न्यायमत इव कार्यानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं तदिति केषांचिन्मतेनोत्तरमाह— अथ कीदृगिति । ज्ञानं चिकीर्षा च ते आदी यस्याः कृतेः सा ज्ञानचिकीर्षादिः, कार्यं प्रत्यनुकूलभूता या ज्ञानचिकीर्षादिः तद्वत्त्वं कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इच्छाकृत्योरपि कार्यत्वेनाऽऽत्माश्रयात्, तयोरिच्छाकृत्यन्तरेण कर्तृत्वं चेत्, अनवस्थानात् । कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमेव ब्रह्मणः कर्तृत्वमिति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । न च ज्ञानस्यैष प्रसङ्गः, तस्य ब्रह्मरूपत्वेनाऽकार्यत्वादिति भावः । न च कार्यानुकूल-

---

इस प्रकार लक्षणके उपोद्घातमें लक्षणके एकदेशरूप उपादानकारणत्वका विचार दिखलाकर उसके एकदेशभूत कर्तृत्वको कैसा मानना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होनेपर 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया), 'सोऽकामयत' (उसने कामना की), 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने अपने आपको स्वयं बना लिया) इत्यादि श्रुतियोंसे न्यायमतके अनुसार कार्यानुकूल ज्ञान, चिकीर्षा और कृति—इन तीनोंसे युक्त होना ही कर्तृत्व है, ऐसा किसीका मत लेकर उक्त प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अथ कीदृग्०' इत्यादिसे ।

ईश्वरका जगत्कर्तृत्व किस प्रकारका है ? इस विषयमें कई एक (न्यायमतका अभिनिवेश करनेवाले) कहते हैं कि कार्यके प्रति अनुकूलभूत ज्ञान, चिकीर्षा और कृति—ये तीन जिसमें हों, उसीमें कर्तृत्व हुआ करता है ॥ ४८ ॥

इसी विषयमें मतान्तर दिखलाते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

अन्य मतवाले तो यों कहते हैं कि इच्छा और कृति भी कार्य ही हैं, अतः आत्माश्रय दोष होगा । यदि उनके कर्तृत्वका अन्य इच्छा और कृतिसे लक्षण करें तो अनवस्थापत्ति होगी, अतः कार्यानुकूलज्ञानवत्त्व ही ब्रह्मका कर्तृत्व है, ऐसा मानना चाहिये । यदि कहें कि ज्ञानमें भी तो यही प्रसङ्ग है अर्थात् इच्छा और कृतिकी नाईं ज्ञान भी कार्य क्यों न माना जाय ? तो इसपर हम कहते हैं कि

६. ईश्वरस्य सर्वज्ञत्ववादः

ननु जगतः कर्तृत्वाक्षिप्तं सार्वज्ञ्यमीश्वरस्य कथम् ।
जीववदन्तःकरणाभावेन ज्ञातृतायोगात् ॥ ५० ॥

अत्र प्राणिगताखिलगोचरधीवासनैकसाक्षितया ।
सार्वज्ञ्यमीश्वरस्य प्रसाधयन्ति स्म भारतीतीर्थाः ॥ ५१ ॥

ब्रह्मरूपज्ञानवत्त्वमीश्वरस्य कर्तृत्वम्, तस्य जीवं प्रत्यविशेषेण जीवस्याऽपि तत्प्रसङ्गात् । अतः कार्यानुकूलस्रष्टव्यालोचनात्मकज्ञानवत्त्वं तदिति मतान्तरमाह—इतरे त्विति ॥ ४९ ॥

ननु जगत्कर्तृत्वेनाऽऽक्षिप्तं शास्त्रयोनित्वेन च समर्थितमीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं कथं संगच्छताम् ? जीववदन्तःकरणाभावेन ज्ञातृत्वाभावादिति शङ्कते—नन्विति ॥५०॥

सर्ववस्तुविषयकप्राणिधीवासनोपरक्ताज्ञानोपाधिः ईश्वरः, अतस्तस्य प्राणि-

---

वैसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान ब्रह्मरूप है, अतः वह अकार्य है । यदि कार्यानुकूल ब्रह्मरूपज्ञानवत्त्व ही ईश्वरका कर्तृत्व मानें, तो वह जीवमें भी समान है, अतः जीवमें भी कर्तृत्वका प्रसङ्ग होगा । इस परिस्थितिमें इतर मतवाले कहते हैं—कार्यानुकूल स्रष्टव्य प्रपञ्चका आलोचनात्मक ज्ञानवान् होना ही कर्तृत्वका लक्षण है ॥ ४९ ॥

शङ्का करते हैं—'ननु जगतः' इत्यादिसे ।

ईश्वर जगत्का कर्ता है, ऐसा कहनेपर उसमें सर्वज्ञत्व तो आक्षेपसे प्राप्त होता है; क्योंकि जो जिसका कर्ता होता है, वह उसका ज्ञान पहलेसे ही सम्पादन कर लेता है अर्थात् ईश्वरका जगत्कर्तृत्व, स्रष्टव्य सकल जगत्के ज्ञानके विना अनुपपन्न है, अतः ईश्वरमें सर्वज्ञता सिद्ध होती है, और 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० १।१।३) (वेदादि शास्त्रका कारण) इत्यादि प्रमाणोंसे ईश्वरकी सर्वज्ञताका समर्थन भी किया गया है, परन्तु यह सर्वज्ञता ईश्वरमें कैसे मानी जा सकती है ? क्योंकि जैसे अन्तःकरणके होनेसे जीव ज्ञाता होता है, वैसे ईश्वरको अन्तःकरण है नहीं, अतः उसमें सर्वज्ञता तो दूर रही, साधारण ज्ञाता भी वह नहीं बन सकता ॥५०॥

इस शङ्काका श्रीभारतीतीर्थके मतानुसार समाधान करते हैं—'अत्र' इत्यादिसे।

ऊपर निर्दिष्ट शङ्काके विषयमें श्रीभारतीतीर्थ मुनि यों कहते हैं कि सब वस्तुओंको विषय करती हुई सकलप्राणिबुद्धिकी जो वासनाएँ हैं, उन वासनाओंसे

चित्प्रतिबिम्बग्राहकमायावृत्त्येश्वरस्याऽपि ।
सर्वज्ञतोपपन्नेत्याहुः प्रकटार्थकाराद्याः ॥ ५२ ॥

स्रष्टव्यालोचनया साक्षात्कृत्या तदुत्थसंस्मृत्या ।
त्रैकालिकधीमत्त्वात् सार्वज्ञ्यं तत्त्वशुद्धिकृत आहुः ॥ ५३ ॥

गतसर्वविषयकधीवासनासाक्षितया सर्वज्ञत्वमिति भारतीतीर्थानां मतेन समाधत्ते—अत्रेति ॥ ५१ ॥

यथाऽन्तःकरणवृत्त्या जीवस्य ज्ञातृत्वम्, एवमीश्वरस्याऽपि चित्प्रतिबिम्बग्राहक-सात्त्विकमायावृत्त्या त्रैकालिकसकलपदार्थगोचरापरोक्षज्ञानाश्रयत्वेन सर्वज्ञत्वमुपपन्न-मिति मतान्तरमाह—**चिदिति** ॥ ५२ ॥

भूतभाविनोर्मायावृत्त्यसंभवादापरोक्ष्यासंभवं संभावयतः पुरुषान् प्रति मतान्तर-माह—**स्रष्टव्येति** । स्रष्टव्यालोचनयेति तृतीया धान्येन धनवानितिवदभेदविषया द्रष्टव्या । तथा चाऽऽलोचनात्मकत्रैकालिकवस्तुविषयकधीमत्त्वादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

उपरक्त अज्ञानरूप उपाधिसे युक्त ईश्वर प्राणिगत सकलपदार्थविषयक वासनाओंका साक्षी होनेसे सर्वज्ञ है ॥ ५१ ॥

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'चित्प्रतिबिम्ब०' इत्यादिसे ।

जैसे अन्तःकरणकी वृत्तिसे जीव ज्ञाता होता है, वैसे ही ईश्वर भी चैतन्यप्रतिबिम्बके ग्राहक सात्त्विक मायाकी वृत्तिसे त्रैकालिक सकल पदार्थोंको विषय करनेवाले अपरोक्ष ज्ञानका आश्रय होकर सर्वज्ञ बन सकता है; ऐसा प्रकटार्थकार आदि कहते हैं ॥ ५२ ॥

उक्त विषयमें कई एक शङ्का करते हैं कि भूत और भावी—इन दोनोंमें मायावृत्तिका असंभव होनेसे अपरोक्ष ज्ञानका भी असंभव होगा, अतः इस शङ्काका निवारण करनेके लिए मतान्तर दर्शाते हैं—'स्रष्टव्या०' इत्यादिसे ।

जैसे 'धान्येन धनवान्' इस वाक्यमें धान्यपदके आगे तृतीया विभक्ति अभेद अर्थमें है, अर्थात् धान्याभिन्न—धान्यरूप—धनवाला ऐसा अर्थ तृतीयाका होता है, वैसे ही 'स्रष्टव्यालोचनया' इस पदके आगे आई हुई तृतीयाका भी अभेद अर्थ है अर्थात् स्रष्टव्य सकल पदार्थकी आलोचना ही साक्षात्कृति है, उस साक्षात्कृतिसे उत्थित (तादृश साक्षात्काराहित संस्कारसे जनित) स्मृतिसे ईश्वर त्रैकालिक वस्तुको विषय करनेवाले ज्ञानका आश्रय होनेसे सर्वज्ञ है, ऐसा तत्त्वशुद्धिकार कहते हैं ॥ ५३ ॥

स्वेनैव ज्ञानेन स्वनिष्ठसर्वावभासकत्वेन ।
सर्वज्ञत्वमितीत्थं समर्थयन्ति स्म कौमुदीकाराः ।। ५४ ।।
अत्र च सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञानस्वरूपतेत्येके ।
दृश्यावच्छिन्नस्वज्ञानं प्रति कर्तृता तदित्यपरे ।। ५५ ।।

७. जीवाल्पज्ञत्ववादः

नन्वीश्वरो यथा किल वृत्त्यनपेक्षः स्वरूपभासैव ।
विषयानवभासयति स्याज्जीवोऽप्येवमित्यत्र ।। ५६ ।।

आत्मस्वरूपज्ञानेनैव ब्रह्मणः स्वाध्यस्तसर्वप्रपञ्चावभासकत्वात् सार्वज्ञ्यमिति मतान्तरमाह—स्वेनैवेति । चित्रभित्तौ विमृष्टानुन्मीलितचित्रयोरिव स्वरूपे सूक्ष्मरूपेणाऽतीतानागतयोरपि सत्त्वादिति भावः ।। ५४ ।।

अत्र सर्वावभासकज्ञानस्वरूपत्वमेव सार्वज्ञ्यम्, न तु ज्ञानकर्तृता; 'वाक्यान्वयात्' इत्यधिकरणभाष्ये ज्ञानकर्तृताया जीवलिङ्गत्वोक्तेरिति केषांचिन्मतमाह—अत्रेति । अत्र शङ्कायामित्यर्थः । चितः कार्योपहितरूपेण कार्यत्वात् कर्तृता सुवचेति वाचस्पतिमिश्राणां मतमाह—दृश्येति ।। ५५ ।।

ननु ईश्वर इव जीवोऽपि वृत्त्यनपेक्षस्वरूपचैतन्येन विषयान् कुतो नाऽव-

---

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'स्वेनैव' इत्यादिसे ।

आत्मस्वरूप ज्ञानसे ही ब्रह्म अपनेमें अध्यस्त सब प्रपञ्चका अवभासक होनेसे सर्वज्ञ होता है अर्थात् चित्रभित्तिमें परिमार्जित और अप्रकटित चित्रकी नाईं ब्रह्म स्वरूपमें सूक्ष्मरूपसे स्थित होकर अतीत और अनागतका भी अवभासक होकर सर्वज्ञ होता है, इस प्रकार कौमुदीकार ब्रह्मकी सर्वज्ञताका समर्थन करते हैं ।।५४।।

अब वेदान्तसम्मत सर्वज्ञत्वका स्पष्ट अर्थ दिखलाते हैं—'अत्र च' इत्यादिसे ।

यहाँ सर्वावभासक ज्ञानस्वरूपता ही सर्वज्ञता मानी जाती है, ज्ञानकर्तृता नहीं; क्योंकि 'वाक्यान्वयात्' (ब्र० सू० १।४।१९) इस अधिकरणके भाष्यमें ज्ञानकर्तृता जीवलिङ्ग कही गई है। अर्थात् ५० वें श्लोकमें 'कथम्' कहकर सर्वज्ञत्वकी शङ्का की गई थी, उसके परिहारमें सर्वज्ञानस्वरूपत्व ही ब्रह्मका सर्वज्ञत्व है, ऐसा मत है। और दृश्यावच्छिन्न स्वज्ञानके प्रति कर्तृता ही सर्वज्ञता है, ऐसा अन्य मानते हैं अर्थात् चित्में कार्योपहितरूपसे कार्यता होनेके कारण कर्तृता कही जा सकती है, ऐसा भामतीकार वाचस्पतिमिश्रका मत है ।। ५५ ।।

शङ्का करते हैं—'ननु' इत्यादिसे ।

जैसे ईश्वर वृत्तिकी अपेक्षाके बिना ही अपने स्वरूपप्रकाशसे विषयोंका

विषयासंसर्ग्यपि सन्नन्तःकरणेन संसृष्टः ।
विषयोपरागसिद्ध्यै जीवस्तावत्समीहते वृत्तिम् ॥ ५७ ॥
विषयावच्छिन्नचिताभेदाभिव्यक्तिसिद्धये वाऽयम् ।
जीवोऽन्तःकरणपरिच्छिन्नतया वृत्तिमभिलषति ॥ ५८ ॥

भासयतीति शङ्कते—नन्विति ॥ ५६ ॥

ब्रह्म सर्वोपादानतया स्वसंसृष्टं सर्वमवभासयति; जीवस्त्वविद्योपाधिकतया सर्वगतोऽपि न सर्वविषयैः संसृज्यते, अनुपादानत्वात् । तथाविधोऽपि सन् व्यक्तौ जातिरिव अन्तःकरणेन संसृष्टो वृत्तिद्वारा विषयं व्याप्नोतीति विषयैः संबन्धसिद्ध्यर्थं वृत्तिमपेक्षत इति विवरणोक्तं परिहारमाह—विषयेति ॥ ५७ ॥

अन्तःकरणोपाधिकत्वेन जीवः परिच्छिन्नः तत्संसर्गाभावान्न विषयमवभासयति। वृत्तिद्वारा स्वसंसृष्टविषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ तु तं विषयमवभासयतीति तत्सिद्ध्यर्थं वृत्तिमपेक्षत इति तदुक्तमेव परिहारान्तरमाह—विषयेति ॥ ५८ ॥

अवभासन करता है, वैसे जीव भी वृत्तिनिरपेक्ष विषयोंका अवभासन क्यों न कर सकेगा ? ॥ ५६ ॥

जीवको वृत्तिकी अपेक्षा रहती है, इसमें युक्ति कहते हैं–'विषया०' इत्यादिसे। ब्रह्म सबका उपादान होनेसे स्वसंसृष्ट सबका अवभासन कर सकता है और जीव तो अविद्यारूप उपाधिवाला होनेसे सर्वगत होनेपर भी सब विषयोंके साथ संबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरकी नाईं वह उपादान नहीं है। ऐसा होनेपर भी व्यक्तिमें जातिके समान अन्तःकरणसे संसृष्ट होकर वृत्ति द्वारा विषयोंको व्याप्त करता है अर्थात् विषयोंके साथ सम्बन्धकी सिद्धिके लिए वृत्तिकी अपेक्षा करता है, ऐसा विवरणकार द्वारा उक्त परिहार करते हैं—'विषया०' इत्यादिसे।

विषयोंका असंसर्गी होनेपर भी जीव अन्तःकरणके साथ संसृष्ट होकर विषयोपरागकी सिद्धिके लिए वृत्तिकी अपेक्षा रखता है ॥ ५७ ॥

विवरणकार द्वारा ही कथित अन्य परिहारका निरूपण करते हैं–'विषया०' इत्यादिसे। अन्तःकरणरूप उपाधिवाला होनेसे जीव परिच्छिन्न है, अतः विषयका संसर्ग न होनेसे वह विषयका अवभासक नहीं हो सकता, किन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ अपने अभेदकी अभिव्यक्तिकी सिद्धिके लिए [अर्थात् वृत्ति द्वारा स्वसंसृष्ट विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यके साथ अपने अभेदकी अभिव्यक्ति होनेपर] तो जीव विषयावभासन करता है। बस, इसी अभिव्यक्तिकी सिद्धिके लिए वृत्तिकी अभिलाषा रखता है ॥ ५८ ॥

अथवा घटादिविषयाज्ञानावरणाभिभूतये जीवः ।
द्वारीकरोति वृत्तिं त्रेधेत्थं विवरणे परीहारः ॥ ५९ ॥

८. सम्बन्धवादः

अत्र प्रथमे पक्षे सर्वगतस्याऽपि जीवस्य ।
वृत्त्यायत्तः को वा विषयैरुपराग इत्यत्र ॥ ६० ॥

जीवः सर्वगतोऽप्यविद्यावृतत्वात् स्वयमप्यप्रकाशमानतया विषयान्नाऽवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादावरणतिरोधानेन तत्रैवाऽभिव्यक्तस्तमेव प्रकाशयतीति तदभिभवार्थं वृत्तिमपेक्षत इति तदुक्तमेव परिहारान्तरमाह—अथवेति ॥ ५९ ॥

इत्थं प्रदर्शितेषु पक्षेषु प्रथमं पक्षं प्रश्नव्याजेनाऽऽक्षिपति—अत्रेति । निष्क्रिययोर्भिन्नदेशीययोर्विषयचैतन्ययोस्तादात्म्यस्य संयोगस्य वा आधानासंभवादिति भावः ॥ ६० ॥

जीव है तो सर्वगत, किन्तु अविद्यासे आवृत होनेके कारण स्वयं भी अप्रकाशमान होकर विषयोंका अवभासन नहीं करता, परन्तु किसी एक विषयमें वृत्तिके सम्बन्धसे आवरणके तिरोहित हो जानेपर उसी विषयमें अभिव्यक्त होकर उस विषयका प्रकाश करता है; ऐसा विवरणकार द्वारा उक्त दूसरा परिहार दर्शाते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

अथवा घट आदि विषयोंसे अवच्छिन्न चेतनाश्रित अज्ञान द्वारा किये गये आवरणके अभिभव (निवृत्ति) के लिए जीव अन्तःकरणवृत्तिको द्वार बनाता है अर्थात् वृत्तिव्याप्तिसे पहले विषयावच्छिन्न चेतनमें अज्ञानका आवरण रहता है, जब उसका भंग होता है तब विषयावच्छिन्न चेतन और जीव चेतन दोनोंकी एकता होनेपर विषयका प्रकाश होता है; यों तीन प्रकारोंसे विवरणकार प्रकाशात्म श्रीचरणने इस विषयका परिहार किया है ॥ ५९ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे जो विवरणोक्त तीन परिहार दर्शाये गये हैं, उनमें से प्रथम पक्षका प्रश्नरूपसे आक्षेप करते हैं—'अत्र' इत्यादिसे । इस प्रथम पक्षमें सर्वगत जीवका भी विषयोंके साथ वृत्तिके अधीन कौन-सा सम्बन्ध है ? अर्थात् निष्क्रिय और भिन्नदेशमें रहनेवाले विषय और चैतन्यका तादात्म्य अथवा संयोग सम्बन्ध होना तो असंभव है, अतः बतलाओ कौन-सा सम्बन्ध है ? ॥ ६० ॥

विषयविषयित्वमेवेत्याहुः केचित् परे तु जीवस्य ।
तादात्म्यापन्नाया वृत्तेः संयोग एवेति ॥ ६१ ॥

स्वावच्छेदकवृत्तेर्विषयैरुन्मिषति संयोगे ।
तज्जन्यः संयोगो जीवस्याऽस्तीति जगुरेके ॥ ६२ ॥

स्वाभाविकविषयविषयिभाव एव सम्बन्ध इति मतेन समाधत्ते—विषयेति। नहि विषयविषयित्वं सम्बन्धः, अनुमित्यादौ वृत्त्यनिर्गमेऽपि बाह्यवह्न्यादिविषयता-सत्त्वेन बहिर्निर्गमनकल्पनावैयर्थ्यापत्तेः । किन्तु जीवतादात्म्यापन्नाया मनोवृत्तेः विषयैः संयोगो जीवस्याऽपि तद्द्वारा परम्परासम्बन्धो लभ्यत इति स एव चिदुप-रागोऽभिमत इति मतान्तरमाह—परे त्वित्यादिना ॥ ६१ ॥

साक्षात् प्रमातृसम्बन्धे सत्येव सुखादेरापरोक्ष्यदर्शनात् प्रमात्रवच्छेदिकाया वृत्तेः विषयैः संयोगे तदवच्छेदेन प्रमातुर्जीवस्याऽपि संयोगजसंयोगोऽस्तीति स एव चिदुपराग इति मतान्तरमाह—स्वावच्छेदकेति । कारणाकारणसंयोगात् कार्या-कार्यसंयोगवत् कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकारणसंयोगस्याऽप्यभ्युपगमादिति भावः ॥ ६२ ॥

कुछ लोग उक्त प्रश्नका उत्तर यों करते हैं—'विषय०' इत्यादिसे ।

कई एक तो विषय और चैतन्यका स्वाभाविक विषयविषयिभाव ही सम्बन्ध है; ऐसा कहते हैं और दूसरे कुछ लोग यों कहते हैं कि विषयविषयिभाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदिमें वृत्तिका निर्गम न होनेपर भी बाह्य वह्नि आदिकी विषयता होती है; इससे बहिर्निर्गमनकी कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी, किन्तु जीवतादात्म्यापन्न मनोवृत्तिका विषयोंके साथ संयोग होनेसे उस वृत्तिके द्वारा जीवका भी परम्परासे सम्बन्ध प्राप्त होता है, यही चिदुपराग अभिमत है ॥ ६१ ॥

साक्षात् प्रमाताका सम्बन्ध होनेपर ही सुखादिका अपरोक्षानुभव होनेसे प्रमाताकी अवच्छेदिका जो वृत्ति है; उस वृत्तिका विषयोंके साथ संयोग होनेपर तदवच्छिन्न प्रमाता (जीव) का भी उस विषयके साथ संयोगज संयोग होता है; वही चिदुपराग है, यह कहनेवालेका मत कहते हैं—'स्वावच्छेदक०' इत्यादिसे।

प्रमाताकी अवच्छेदकभूत वृत्तिका विषयोंके साथ संयोग होनेपर उस वृत्तिके संयोगसे जन्य वृत्त्यवच्छिन्न जीवका भी संयोग होता है; ऐसा अन्य कहते हैं।

अन्तःकरणोपहितो जीवो विषयावभासकस्तस्य ।
विषयचिदैक्यद्वारा विषयैस्तादात्म्यमेष इत्यपरे ॥ ६३ ॥

अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकस्य जीवचैतन्यस्य विषयतादात्म्यापन्न-ब्रह्मचैतन्यैक्याभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्यमेव चिदुपराग इति मतान्तरमाह—अन्तःकरणेति । न चैवं द्वितीयपक्षसाङ्कर्यम् , जीवस्य सर्वगतत्वे प्रथमः पक्षः परिच्छिन्नत्वे द्वितीयः इत्येवं तयोर्भेदसंभवादिति भावः ॥ ६३ ॥

जैसे* कारण और अकारणके संयोगसे कार्य और अकार्यका संयोग होता है वैसे ही कार्य और अकार्यके संयोगसे कारण और अकारणका संयोग भी माना जाता है, ऐसा भाव है ॥६२॥

चिदुपरागके विषयमें मतान्तर कहते हैं—'अन्तः०' इत्यादि ।

अन्तःकरणोपहित जीव विषयका अवभासक होता है; उस समय उस जीव-चैतन्यके विषयतादात्म्यापन्न ब्रह्मचैतन्यके साथ ऐक्यकी अभिव्यक्ति होती है; उससे जो विषयतादात्म्य अनुभूत होता है, वह चिदुपराग कहलाता है। इस तृतीय पक्षका द्वितीय पक्षके साथ साङ्कर्य नहीं है, क्योंकि प्रथम पक्षमें जीवका सर्वगतत्व और द्वितीय पक्षमें परिच्छिन्नत्व होनेसे दोनोंका परस्पर भेद है†, ऐसा भाव है ॥ ६३ ॥

---

* जैसे हाथ और पुस्तकके संयोगसे शरीर और पुस्तकका संयोग अर्थात् हस्तरूप अवयव शरीरके प्रति कारण है और पुस्तक कारण नहीं है, परन्तु कारण (हस्त) और अकारण (पुस्तक) इन दोनोंके सम्बन्धसे कार्य (शरीर) और अकार्य (पुस्तक) का संयोग नैयायिक प्रभृति मानते हैं, क्योंकि पुस्तकके साथ हाथका संयोग होनेपर 'मेरे शरीरसे पुस्तकका संयोग है' ऐसा लोकव्यवहार देखा जाता है, वैसे ही कार्य और अकार्यके संयोगसे कारण और अकारणका संयोग माननेमें कोई क्षति नहीं है। प्रकृतमें वृत्ति जीवचैतन्यकी कार्य है और विषय अकार्य है, क्योंकि वृत्तिके प्रति जीवचैतन्य उपादान कारण है और विषय उपादान कारण नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें जीव चैतन्यके कार्य (वृत्ति) के और अकार्य (विषय) के संयोगसे वृत्तिके प्रति कारण (जीव चैतन्य) और अकारण (विषयका) का संयोग संयोगजसंयोगशब्दसे कहा गया है; यह भाव है।

† 'सम्बन्धार्थी वृत्तिः' (वृत्तिका प्रयोजन सम्बन्ध है) इस प्रथम पक्षमें यदि वृत्तिका प्रयोजन अभेदकी अभिव्यक्ति मानते हो, तो 'अभेदाभिव्यक्त्यर्थी वृत्तिः' (वृत्तिका प्रयोजन अभेदकी अभिव्यक्ति है) इस द्वितीय पक्षके साथ प्रथम पक्षका साङ्कर्य हो जायगा, अर्थात् सम्बन्धार्थी वृत्तिः और अभेदाभिव्यक्त्यर्थीवृत्तिः, इन दो मतोंमें कुछ भेद नहीं होगा, यह

९. अभेदाभिव्यक्तिवादः

का च द्वितीयपक्षेऽभेदाभिव्यक्तिरत्राऽऽहुः ।
विषयावच्छिन्नान्तःकरणप्रतिबिम्बचेतनैक्यमिति ॥ ६४ ॥
वृत्तौ यः प्रतिबिम्बो विषयावच्छिन्नचिद्व्यक्तेः ।
तस्याऽन्तःकरणपरिच्छिन्नचितैकत्वमित्यपरे ॥ ६५ ॥
यच्चैतन्यं विषयावच्छिन्नं बिम्बभूतमेतस्य ।
बिम्बत्वोपहितस्यैकत्वं जीवेन सेत्यन्ये ॥ ६६ ॥

द्वितीयं पक्षं प्रश्नपूर्वकं निरूपयति—का चेति । तटाककेदारसलिलयोः कुल्याद्वारेव वृत्तिद्वारा विषयावच्छिन्नान्तःकरणप्रतिबिम्बचैतन्ययोरेकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिरित्यर्थः ॥ ६४ ॥

बिम्बस्थानीयस्य विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्तौ यः प्रतिबिम्बः तस्याऽन्तःकरणपरिच्छिन्नजीवचैतन्येनैकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिरिति मतान्तरमाह—वृत्ताविति ॥ ६५ ॥

अस्तु वा बिम्बस्थानीयस्य विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यस्य चैतन्यात्मना उप-

---

ऊपरके तीन पक्षोंमें से द्वितीय पक्षका प्रश्नपूर्वक निरूपण करते हैं—'का च' इत्यादिसे । ऊपर द्वितीय पक्षमें जो अभेदकी अभिव्यक्ति कही है, वह किस प्रकार होती है ? इस विषयमें कोई यों कहते हैं कि विषयावच्छिन्न चेतन और अन्तःकरण-प्रतिबिम्ब चेतन—इन दोनोंका ऐक्य ही अभेदाभिव्यक्ति है, अर्थात् तालाब और खेतका जल कुल्याके (खुदी हुई नालीके) द्वारा जैसे ऐक्यापन्न हो जाता है, वैसे ही वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न और अन्तःकरणप्रतिबिम्ब दोनों चेतनोंका एकीभाव ही अभेदाऽभिव्यक्ति है, ऐसा अर्थ है ॥ ६४ ॥

'वृत्तौ' इत्यादि । बिम्बस्थानीय विषयावच्छिन्न चैतन्यका वृत्तिमें जो प्रतिबिम्ब है, उस प्रतिबिम्बकी अन्तःकरणसे परिच्छिन्न जीवचैतन्यके साथ एकता ही अभेदाभिव्यक्ति कही जाती है; ऐसा कई एकका मत है ॥ ६५ ॥

'यच्चैतन्यम्' इत्यादि । बिम्बस्थानीय विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यका चैतन्यात्म-

---

शङ्का करनेवालेका आशय है । इसका समाधान करते हैं कि यद्यपि प्रथम पक्षमें वृत्तिद्वारा अभेदाभिव्यक्तिरूप प्रयोजन मानते हैं, तथापि उस पक्षमें जीव व्यापक है और अभेदाभिव्यक्ति पक्षमें जीव परिच्छिन्न है, इसलिए दोनों पक्ष भिन्न हैं, अतः साङ्कर्यका प्रसङ्ग नहीं है, यह तात्पर्य है ।

१०. आवरणाभिभववादः

का वा तृतीयपक्षेऽज्ञानावरणाभिभूतिरिह केचित् ।
अज्ञानांशविनाशः कटवद्वेष्टनमथाऽपसरणमिति ॥ ६७ ॥

लक्षितरूपेणैकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः । तथापि न जीवब्रह्मसाङ्कर्यम्, न वा ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वाभावापत्तिः, तस्य च बिम्बत्वविशिष्टरूपेण प्रतिबिम्बाद्भेदेऽपि तदुपलक्षितरूपेणाऽभेदात् । एवं च बिम्बत्वोपलक्षितस्य विषयावच्छिन्नबिम्बचैतन्यस्य जीवचैतन्येनैकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिरिति मतान्तरमाह—यच्चैतन्यमिति ॥ ६६ ॥

तृतीयं पक्षं प्रश्नव्याजेनाऽऽक्षिपति—केति । आवरणाभिभवस्याऽज्ञाननाशरूपत्वे घटज्ञानेऽपि तन्नाशे मोक्षप्रसङ्ग इति भावः । चैतन्यमात्रावारकस्य मूलाज्ञानस्य विषयावच्छिन्नप्रदेशे खद्योतादिप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेनैकांशनाशो वा कटवत्संवेष्टनं वा भीतभटवदपसरणं वा अभिभव इति पक्षभेदेनोत्तरमाह—अज्ञानेति ॥ ६७ ॥

भाव द्वारा उपलक्षितरूपसे एकीभाव अभेदाभिव्यक्ति भले ही हो, तथापि न तो जीवब्रह्मके साङ्कर्यका प्रसङ्ग होता है और न ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वके अभावकी आपत्ति आती है, क्योंकि ब्रह्मका बिम्बत्वविशिष्टरूपसे प्रतिबिम्बसे भेद होनेपर भी तदुपलक्षितरूपसे अभेद है । अतः अन्य मतवाले बिम्बत्वोपहित (बिम्बत्वोपलक्षित) विषयावच्छिन्न बिम्बभूत चैतन्यका जीवचैतन्यके साथ एकत्व (एकीभाव) को अभेदाभिव्यक्ति कहते हैं ॥ ६६ ॥

पूर्व ५९ वें श्लोकमें विवरणकारोक्त परिहारके तृतीय पक्षमें अज्ञानावरणाभिभवका जो निर्देश किया था, उसका प्रश्नरूपसे आक्षेप करते हैं—'का वा' इत्यादि से ।

यदि आवरणाभिभव अज्ञाननाशस्वरूप ही माना जाय, तो घटज्ञानसे अज्ञाननाश होनेपर मोक्षका प्रसङ्ग हो जायगा । घने अन्धकारमें जुगनूँके प्रकाशसे जैसे अन्धकारके एक देशका नाश होता है, वैसे ही चैतन्यमात्रका आवरण करनेवाले मूल ज्ञानके एक देशका (थोड़े अंशका) विषयावच्छिन्न प्रदेशमें ज्ञानसे नाश होना आवरणाभिभव है, अथवा चटाईकी नाईं उसका संवेष्टन (सिकुड़ जाना) आवरणाभिभव है ? या भयभीत भटकी—योद्धाकी—नाईं अन्यत्र खिसक जाना आवरणाभिभव है ? इन तीन प्रकारोंमें अभिभवपदसे कौन-सा प्रकार अभिमत है ? ॥६७॥

वृत्त्या संसृष्टं यद्विषयावच्छिन्नचैतन्यम् ।
तदनावारकतास्वाभाव्यं सेत्यामनन्त्येके ॥ ६८ ॥

मूलाज्ञानस्यैवाऽवस्थाभेदात्मकं किञ्चित् ।
अज्ञानान्तरमास्ते तस्मात्तन्नाश एव सेत्यन्ये ॥ ६९ ॥

अज्ञानस्यैकांशेन नाशे तद्विषये सकृदवगते समयान्तरेऽप्यावरणाभावप्रसङ्गात्, निष्क्रियस्य वेष्टनापसरणयोरसंभवाच्च न यथोक्तरूपोऽभिभवः, किन्तु तत्तदाकारवृत्तिसंसृष्टावस्थविषयावच्छिन्नचैतन्यानावारकत्वस्वाभाव्यमेवाऽभिभूतिरिति मतान्तरमाह—वृत्त्येति ॥ ६८ ॥

शुद्धब्रह्ममात्रावारकं मूलाज्ञानम् । तस्यैवाऽवस्थाभेदरूपं विषयावच्छिन्नचैतन्यावारकमज्ञानान्तरमस्तीति तन्नाश एवाऽभिभव इति मतान्तरमाह—मूलाज्ञानस्येति । एवं च एकज्ञानेनाऽज्ञाननाशे ज्ञानान्तरवैयर्थ्यापत्त्या तन्नाश्यानेकाज्ञानान्यभ्युपगम्यन्त इति भावः ॥ ६९ ॥

यदि (घटादिज्ञानसे) अज्ञानके एक देशका नाश मानें, तो एकबार घटादि विषयके अवगत होनेपर दूसरे समयमें भी उन घटादिमें आवरणाभावका प्रसङ्ग होगा; और निष्क्रिय अज्ञानके वेष्टन और अपसरण दोनों नहीं हो सकते, अतः पूर्वोक्तरूप अभिभव मानना सङ्गत नहीं होता, इसलिए प्रकारान्तरसे अज्ञानावरणाभिभवका निरूपण करते हैं—'वृत्त्या' इत्यादिसे ।

वृत्तिसे सम्बद्ध विषयावच्छिन्नका अनावारकत्वरूप स्वभाव ही आवरणाभिभव है, ऐसा कई एक कहते हैं, अर्थात् तत्तत् आकारवाली वृत्तिसे संसृष्ट अवस्थावाला जो विषयावच्छिन्न चैतन्य है, उसके अनावारकत्व स्वभावको ही आवरणाभिभूति समझना चाहिए, ऐसा मतान्तर कहते हैं ॥ ६८ ॥

शुद्ध ब्रह्मका आवारक जो मूलाज्ञान है; उसीकी एक अवस्था विषयावच्छिन्न चैतन्यकी आवारक अविद्या (अज्ञान) है, उसके नाशको ही यहाँ आवरणाभिभव समझना चाहिए; ऐसा दूसरा मत दिखलाते हैं—'मूलाज्ञान०' इत्यादिसे ।

मूलाज्ञानकी (शुद्ध ब्रह्मके आवारक अज्ञानकी) ही एक अवस्था अज्ञानान्तर है, उसका नाश ही आवरणाभिभव है, ऐसा कई मानते हैं । एवञ्च एक ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर अन्य ज्ञानकी व्यर्थतापत्ति न हो, इसलिए अनेक अज्ञान भी माने जाते हैं ॥ ६९ ॥

११. अवस्थाज्ञानसादित्वानादित्ववादः

तच्चाऽनेकमवस्थाज्ञानमनादीति केचिदिच्छन्ति ।
निद्रासुषुप्त्यवस्थासाम्यात् सादीत्युदाहरन्त्यपरे ॥ ७० ॥

नन्वज्ञानमनादीत्यस्मिन् पक्षे कियन्निवर्त्यं स्यात् ।
अत्र व्यवस्थयैकज्ञानेनैकं निवर्त्यमित्येके ॥ ७१ ॥

तच्चाऽनेकमवस्थाज्ञानं मूलाज्ञानवदज्ञानत्वादनादीति केषांचित् मतमाह—**तच्चेति** । व्यावहारिकजगज्जीवावावृत्य स्वाप्नजगज्जीवौ विक्षिपन्त्या निद्राया अज्ञानावस्थात्वं प्रसिद्धम् । सुप्तेरपि न किञ्चिदवेदिषमित्यनुभवस्य कादाचित्कत्वात् सादित्वम् । तत्साम्यादन्यदप्यज्ञानावस्थारूपं सादीत्यपरेषां मतमाह—**निद्रेत्यादिना** ॥ ७० ॥

अनादित्वपक्षे घटे प्रथमोत्पन्नज्ञानेन तदवच्छिन्नसर्वाज्ञाननाशे पुनरावरणानापत्तिः । एकतरनाशे विनिगमकाभाव इत्याशयेन शङ्कते—**नन्विति** । यथा न्यायनये सत्स्वप्यनेकेषु तद्विषयभ्रमसंशयादिहेतुज्ञानप्रागभावेष्वेकज्ञानेनैक एव

वे अवस्थाज्ञान अनेक हैं और मूलाज्ञानकी नाईं उनमें भी अज्ञानत्व है, अतः वे अनादि हैं, ऐसा कई एक कहते हैं। और अन्य मतवाले व्यावहारिक जगत् और जीवका आवरण करके स्वप्नके जगत् और जीवको विक्षिप्त करनेवाली निद्रा तो अज्ञानावस्था प्रसिद्ध है; और सुषुप्ति भी 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' ऐसा अनुभव कादाचित्क होनेसे सादि है; इन दोनोंके समान होनेसे अन्य अज्ञानावस्थारूप अज्ञान भी सादि है, ऐसा कई एकका मन्तव्य है ॥ ७० ॥

अज्ञानको अनादि माननेमें घटमें प्रथमोत्पन्न ज्ञानसे तदवच्छिन्न सब अज्ञानोंका नाश हो जानेपर पुनः आवरण नहीं होगा; और किसी एक अज्ञानका नाश होता है, ऐसा माननेमें कोई विनिगमक नहीं है, इस अभिप्रायसे शङ्का करते हैं—'नन्वज्ञान०' इत्यादिसे।

अज्ञानको जो अनादि मानता है, उसके पक्षमें (ज्ञानसे) कितने अज्ञानकी निवृत्ति होगी? इसका कुछ ठीक खुलासा या व्यवस्था नहीं होती; अतः इस विषयमें व्यवस्थाके लिए एक ज्ञानसे एक अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है; ऐसा कई एक मानते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे न्यायमतमें यद्यपि अज्ञानपदार्थविषयक भ्रम और संशयादिके हेतु ज्ञानप्रागभाव अनेक हैं तो भी एक ज्ञानसे एक

आवृण्वन्ति घटादिकमज्ञानानि क्रमेण न तु युगपत् ।
यद्यद्यदावृणोति ज्ञानात्तत्तन्निवर्त्यमित्यपरे ॥ ७२ ॥

संततमेव समस्ताज्ञानान्यावारकाणि विषयस्य ।
ज्ञानेनैकविनाशे भवति परेषां तिरस्क्रियेत्यन्ये ॥ ७३ ॥

प्रागभावो निवर्त्यते संशयादिनिवृत्तिर्विषयावभासश्च भवति, तथैकेन ज्ञानेनैकाज्ञानं निवर्तते संशयादिनिवृत्तिर्विषयावभासश्चेत्यभिप्रेत्य केषांचिन्मतेन परिहरति—अत्रेत्यादिना ॥ ७१ ॥

यावद्विशेषाभावकूटस्यैव संशयादिहेतुत्वेनैकेनाऽपि ज्ञानेन तत्कूटविघटने संशयाप्रसक्त्या प्रागभाववैषम्यात् आवृतप्रकाशायोगादेकावृतेऽन्यस्याऽनुपयोगाच्च। अतोऽज्ञानानि क्रमेण घटादिकमावृण्वन्ति, न तु एकदा । तथा च यदा यद्यद-ज्ञानमावृणोति तदा ज्ञानात्तत्तदज्ञानमेव निवर्तत इत्यभिप्रेत्य मतान्तरमाह—आवृण्वन्तीति ॥ ७२ ॥

अज्ञानस्य सविषयत्वस्वाभाव्यादुत्सर्गतः सर्वतः सर्वदैव सर्वाज्ञानानि विषय-स्याऽऽवारकाणि भवन्ति । तथा च ज्ञानेनैकाज्ञाननाशेऽन्येषां ज्ञानकाले तिरस्कारो

ही प्रागभावकी निवृत्ति होती है और उससे संशयादिकी निवृत्ति और विषयाव-भास हो जाता है, वैसे ही एक ज्ञानसे एक अज्ञानके निवृत्त होनेसे संशयादि की निवृत्ति और विषयावभास होता है ॥ ७१ ॥

जितने विशेषाभाव हैं, उनके समूहमें ही संशय आदिके प्रति हेतुता है, अतः जब एक ज्ञानसे ही उस समूहका विघटन (नाश) हो जायगा, तब संशय आदिका प्रसंग नहीं हो सकता; अतः पूर्वोक्त प्रागभावका दृष्टान्त विषम होनेसे आवृतका प्रकाश नहीं बन सकता और एक आवृतमें अन्यका उपयोग भी नहीं है, इसलिए मतान्तरोंका उपन्यास करते हैं—'आवृण्वन्ति' इत्यादि ।

अज्ञान घट आदिका क्रमसे आवरण करते हैं; एक साथ नहीं करते; अतः जिस समयमें जो जो अज्ञान आवरण करता है, उस समयमें ज्ञानसे उस अज्ञानकी निवृत्ति होती है ॥ ७२ ॥

अज्ञानका सविषयत्व होना स्वभाव है अर्थात् अज्ञान किसी विषयका अवलम्बन करके ही अपना अस्तित्व रखता है । अतः सब जगह सब अज्ञान सदा विषयोंके आवारक होते हैं; जब ज्ञानसे एक अज्ञानका नाश होता है, तब

१२. धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानवैफल्यपरिहारवादः

नन्वेवं सति धारास्थले द्वितीयादिसफलता न स्यात् ।
प्रथमज्ञानेनैवाऽऽवरणाभिभवस्य सिद्धत्वात् ॥ ७४ ॥

भवति । सन्निपातहरौषधेनैकदोषनाशे दोषान्तराणामिवेति मतान्तरमाह—सन्ततमेवेति ॥ ७३ ॥

एतन्मते धारावाहिकस्थले प्रथमज्ञानेनैव नाशतिरस्काराभ्यां सर्वावरणाभिभवस्य सिद्धत्वात् द्वितीयादिज्ञानानां विफलता स्यादिति शङ्कते—नन्विति ॥७४॥

ज्ञानकालमें अन्यका तिरोभाव रहता है; ऐसा मतान्तर कहते हैं—'सन्ततमेव' इत्यादिसे ।

सदा सब अज्ञान विषयके आवारक ही होते हैं। जिस समय एक ज्ञानसे एक अज्ञानका विनाश होता है, उस समय दूसरे अज्ञानोंका तिरस्कार होता है अर्थात् जैसे सन्निपातका नाश करनेवाले औषधसे एक दोषका नाश हो जानेपर दूसरे दोषोंका तिरस्कार (तिरोभाव) हो जाता है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ ७३ ॥

शङ्का करते हैं—'नन्वेवं सति' इत्यादिसे ।

इस मतमें अर्थात एक ज्ञानसे एक अज्ञानका नाश होता है और दूसरोंका तिरोभाव होता है, इस मतमें धारावाहिकस्थलमें द्वितीयादि ज्ञानोंकी सफलता नहीं होगी, क्योंकि जब प्रथम ज्ञानसे ही एक अज्ञानका नाश और अन्योंका तिरस्कार हो जाता है, तब सब आवरणोंका अभिभव सिद्ध ही है ॥ ७४ ॥

---

(१) धारावाहिक ज्ञानका अर्थ है--ज्ञानकी धारा अर्थात् कुछ काल तक चलनेवाला एक विषयका ज्ञान । उदाहरणार्थ--जहां दस मिनट तक बराबर अनुस्यूतरूपसे किसी एक व्यक्तिको घटका ज्ञान होता है, वहां प्रत्येक क्षणमें घटाकार वृत्ति अलग अलग हुआ करती है, अतः उन वृत्तियोंसे व्यक्त हुआ चैतन्यरूप ज्ञान भी वृत्तिके भेदसे भिन्न होगा, इस परिस्थितिमें उक्त दस मिनट तक होनेवाला घटज्ञान एक नहीं है, किन्तु तवतक होनेवाली अनेक घटज्ञानोंकी एक धारा (प्रवाह) है, ऐसा अवश्य मानना होगा । इस विषयमें शङ्का यह होती है कि जब आप यह मानते हैं कि एक ज्ञानसे (घटके ज्ञानसे) एक ही अज्ञानका (एक ही घटके अज्ञानका) नाश होता है और अन्य अज्ञानोंका तिरोभाव हो जाता है, तब उक्त दस मिनट तक होनेवाली ज्ञानकी धाराके प्रथम ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश और अन्य अज्ञानोंका तिरोभाव हो जायगा, फिर ज्ञानप्रवाहमें दूसरा, तीसरा आदि सब ज्ञान व्यर्थ हैं, यह शङ्काका भाव है ।

अत्र प्रथमज्ञानतिरस्कृतमज्ञानमुपरते तस्मिन् ।
पुनरावृणोति वृत्त्यन्तरोदयेनेति सफलतामाहुः ॥ ७५ ॥
अज्ञानानि हि तत्तत्कालिकविषयावृतिप्रगल्भानि ।
ज्ञानानि च स्वकालावृतिनाशकराणि तेन तामपरे ॥ ७६ ॥

प्राथमिकज्ञानतिरस्कृतमज्ञानं दीपतिरस्कृतं तम इव तस्मिन् ज्ञाने उपरते पुनरावृणोति । दीपान्तरस्येव ज्ञानान्तरस्योदये नाऽऽवृणोति । किन्तु तथैवाऽवतिष्ठत इत्यावरणाभिभवपरिपालकतया द्वितीयादिज्ञानानां सफलताऽस्तीति मतेनोत्तरमाह—अत्रेति ॥ ७५ ॥

अज्ञानानि हि तत्तत्कालोपलक्षितविषयावारकाणि । ज्ञानानि च स्वकालोपलक्षितविषयावरणनाशकानि । तेन धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानानामपि तत्तत्कालिकविषयावरणनाशकत्वेन सफलतेति मतान्तरमाह—**अज्ञानानीति** । ताम्—सफलताम् ॥७६॥

उक्त शङ्काका परिहार करते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि प्रथम ज्ञानसे अज्ञानका तिरस्कार होता है, उसका तात्पर्य यह है—जैसे दीपसे तिरस्कृत अन्धकार दीपके उपरत हो जानेपर फिर घटादिका आवरण करता है, वैसे ही प्रथम ज्ञानके उपरत हो जानेपर फिर घटादिका अज्ञान आवरण करता है और जैसे अन्य दीपके आ जानेसे अन्धकार फिर आवरण नहीं करता, वैसे ही द्वितीयादि ज्ञानका उदय होनेसे पुनः अज्ञान आवरण नहीं करता—तिरस्कृत ही रहता है; इस रीतिसे द्वितीयादि ज्ञान आवरणाभिभवको ज्यों-का-त्यों बना रखते हैं, इसलिए उन ज्ञानोंकी सफलता है ॥ ७५ ॥

इस विषयमें मतान्तर दिखलाते हैं—'अज्ञानानि' इत्यादिसे ।

अज्ञान तत्तत्कालोपलक्षित विषयका आवरण करते रहते हैं अर्थात् अज्ञान भिन्न-भिन्न समयमें विषयोंका आवरण करते रहते हैं और ज्ञान स्वकालोपलक्षित विषयके आवरणका नाश करते हैं याने ज्ञान जिस समयमें होता है, उसी समयमें विषयको आवृत करनेवाले अज्ञानका नाश करता है, दूसरेका नहीं । इससे धारावाहिक द्वितीयादि ज्ञान अपने समयमें विषयका आवरण करनेवाले अज्ञानका नाश करते हैं, अतः वे निष्फल नहीं हैं, यों अन्य मतवाले द्वितीयादि ज्ञानोंकी सफलता बतलाते हैं* ॥ ७६ ॥

---

* यह न्यायचन्द्रिकाकारका मत है—मूलाज्ञानके अवस्थारूप अज्ञान अनेक हैं, वे मूलाज्ञानके समान सर्वदा विषयोंको आवृत नहीं करते, किन्तु कुछ अज्ञान कुछ कालतक

आद्यज्ञानेन घटाद्यज्ञानं तदितरैस्तु विज्ञानैः ।
देशादिविशिष्टघटाद्यज्ञानं नाश्यमिति केचित् ॥ ७७ ॥

१३. परोक्षज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वानिवर्तकत्ववादः

नन्वेष नाऽस्ति नियमः परोक्षवृत्तेरनिर्गत्या ।
विषयाज्ञाननिवर्तकभावायोगादिह प्राऽऽहुः ॥ ७८ ॥

प्रथमज्ञानेन केवलघटाद्यज्ञानमेव निवर्तते । द्वितीयादिज्ञानैस्तु देशकालादिविशिष्टघटाद्यज्ञानमेव । अतस्तेषां सफलतेति मतान्तरमाह—आद्येति । अत एव सकृद् दृष्टे 'जानाम्येव चैत्रम्, इदानीं स क्वेति न जानामि' इत्यनुभव इति भावः ॥ ७७ ॥

ननु नाऽयमपि नियमः, परोक्षप्रमाणवृत्तिषु व्यभिचारादिति शङ्कते—नन्विति ॥ ७८ ॥

द्वितीयादि ज्ञानकी सफलतामें अन्य मत दिखलाते हैं—'आद्यज्ञानेन' इत्यादिसे ।

प्रथम ज्ञानसे केवल घटादिका अज्ञान ही निवृत्त होता है और द्वितीयादि ज्ञानोंसे तो देश, काल, आदिसे विशिष्ट घटादिका अज्ञान निवृत्त होता है, ऐसा कई एक मानते हैं, अतएव एक बार देखनेसे 'मैं चैत्रको जानता हूँ, परन्तु अब वह कहाँ है, यह नहीं जानता' ऐसा अनुभव होता है ॥ ७७ ॥

शङ्का करते हैं—'नन्वेष' इत्यादिसे ।

ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञानमात्र अज्ञानका निवर्तक है, क्योंकि प्रमाणजन्य परोक्षवृत्तियोंमें व्यभिचार है, कारण कि परोक्षवृत्तियोंका निर्गमन नहीं होता, अतः वे विषयाज्ञानके निवर्त्तक नहीं बन सकती ॥ ७८ ॥

आवरण करते हैं, अन्य अज्ञान अन्य कालमें आवरण करते हैं, इस रीतिसे विशेष विशेष कालमें ही उक्त अज्ञान विषयोंका (विषयावच्छिन्न चैतन्यका) आवरण करनेवाले होते हैं । जो घटादिज्ञान हैं, वे अपनी उत्पत्तिके समय घटादिका आवारक जो अज्ञान होगा, उसीका नाश करते हैं, अतः धारावाहिक-ज्ञानस्थलमें द्वितीयादि ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिके समय अवस्थित विषयावारक अज्ञानके नाशक होनेके कारण सफल हैं; यह भाव है ।

द्विविधं विषयाज्ञानं विषयगतं पुरुषगतं चेति ।
तत्र च परोक्षवृत्त्या पुरुषगतस्यैव तस्य नाश इति ॥ ७९ ॥
पुंगतमेवाऽज्ञानं विक्षेपावरणकारणं तत्र ।
आवरणांशविनाशो वृत्त्या तावत्परोक्षयेत्येके ॥ ८० ॥
अपरे तु विषयमात्राश्रितमिदमज्ञानमत्र नाशस्तु ।
अपरोक्षरूपवृत्त्या तस्मान्नियमो न भग्न इति ॥ ८१ ॥

समाधत्ते—**द्विविधमिति** । विषयावारकमज्ञानं द्विविधम्, विषयाश्रितं पुरुषाश्रितं चेति । तत्र आद्यमावरणं विक्षेपकार्यानुमेयम्; द्वितीयं साक्षिसिद्धम् । तत्र परोक्षवृत्त्या आद्यस्य विप्रकर्षात् संनिहितस्य द्वितीयस्यैव नाश इत्यर्थः । शास्त्रार्थश्रवणानन्तरं स्वस्य तद्विषयकाज्ञाननाशानुभवादिति भावः ॥ ७९ ॥

पुरुषाश्रितमेकमज्ञानमक्षिपटलमिव विप्रकृष्टविषयस्याऽप्यावरणविक्षेपहेतुः ब्रह्मण्यपि जीवकृताज्ञानविषयीकृते जगद्विक्षेपाभ्युपगमात् । तत्र परोक्षवृत्त्या आवरणांशस्यैव नाशमाह—**पुंगतमिति** ॥ ८० ॥

शुक्त्यादितादात्म्यापन्नरजताद्यनुभवोऽसत्यः स्यात् । तदुपादानमज्ञानं विषयगतं तदावारकम् । न चैवं सति तस्य साक्षिसंसर्गाभावे तद्भास्यत्वं न स्यादिति

ऊपरकी शङ्काका समाधान करते हैं—**'द्विविधम्'** इत्यादिसे ।

विषयका आवारक अज्ञान दो प्रकारका है—एक विषयाश्रित और दूसरा पुरुषाश्रित । इन दोनोंमें से प्रथम जो आवरण है, वह विक्षेपरूप कार्यसे अनुमेय है और द्वितीय तो साक्षिसिद्ध है । उनमें प्रथम उक्त जो विषयावारक अज्ञान है, उसकी परोक्ष वृत्तिसे निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि विषय समीपमें नहीं है, किन्तु सन्निहित जो द्वितीय—पुरुषगत साक्षिसिद्ध—अज्ञान है, उसकी निवृत्ति होती है, क्योंकि शास्त्रार्थश्रवणके बाद तद्विषयक अपने अज्ञानके नाशका अनुभव होता है ॥ ७९ ॥

'पुंगतम्' इत्यादि । पुरुषाश्रित एक ही अज्ञान, नेत्रके पटलकी नाँई, विप्रकृष्ट विषयके भी आवरण और विक्षेपका हेतु होता है; क्योंकि जीवकृत अज्ञानसे विषयीकृत ब्रह्ममें भी जगद्विक्षेप मानते हैं । उसमें परोक्ष वृत्तिसे आवरणांशमात्रका विनाश होता है; ऐसा किसी एकका मत है ॥ ८० ॥

इस मतमें शुक्त्यादि-तादात्म्यापन्न रजतका अनुभव असत्य होगा; क्योंकि उसका उपादानभूत अज्ञान विषयगत होकर आवारक होता है । यदि कहो कि इसका साक्षीके साथ

ननु नाऽसात्रपि नियमः सुखादिवृत्तेस्तु तदनिवर्तनतः ।
मैवं सुखदुःखादेर्न वृत्तिरस्त्यस्य साक्षिभास्यत्वात् ॥ ८२ ॥

१४. साक्षिस्वरूपनिर्णयवादः

अथ कोऽयं साक्षीति प्रश्ने कूटस्थदीपोक्तम् ।
तनुद्वयाधिष्ठानं चैतन्यं यत्तु कूटस्थम् ॥ ८३ ॥

वाच्यम् , तत्संसर्गाभावेऽप्यवस्थावस्थावतोरनतिभेदात् अवस्थावतो मूलाज्ञानस्य साक्षिसंसर्गमात्रेण तदवस्थारूपस्य तूलाज्ञानस्याऽपि साक्षिभास्यत्वोपपत्तेः । अस्य च नाशस्त्वपरोक्षवृत्त्यैव । अतः परोक्षवृत्तिषु न व्यभिचार इति मतान्तरमाह—**अपरे त्विति** । परोक्षवृत्त्या अज्ञाननाशानुभवस्तु अर्थसत्तानिश्चयपरोक्षवृत्तिप्रतिबन्धकप्रयुक्ताज्ञाननाशानुभवनिबन्धनो भ्रम इति भावः ॥ ८१ ॥

सुखादिवृत्तेरज्ञाननिवर्तकत्वाभावाद्व्यभिचार इत्याशङ्क्य सुखादिवृत्तेः साक्षिभास्यत्वेन तत्र वृत्त्यनभ्युपगमान्न व्यभिचार इति परिहरति—**नन्विति** ॥ ८२ ॥

साक्षिणमेव सप्रश्नं निरूपयति—**अथेति** । देहद्वयाधिष्ठानभूतकूटस्थचैतन्यं

संसर्ग न होनेपर उसमें साक्षिभास्यत्व नहीं होगा, तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि साक्षीके साथ संसर्ग न होनेपर भी अवस्था और अवस्थावान्—इन दोनोंका अति भेद न होनेसे अवस्थावान् मूलाज्ञानका साक्षिसंसर्गमात्रसे उस मूलाज्ञानके अवस्थारूप तूलाज्ञानमें भी साक्षिभास्यत्व बन सकता है, जिससे परोक्ष वृत्तियोंमें व्यभिचार नहीं होता, ऐसा मतान्तर दिखलाते हैं—'अपरे तु' इत्यादिसे ।

अन्य मतवाले कहते हैं कि यह अज्ञान तो केवल विषयमें रहता है और उसका नाश तो अपरोक्षरूप वृत्तिसे होता है; इससे नियमका भङ्ग नहीं होता अर्थात् परोक्ष वृत्तिसे अज्ञानके नाशका जो अनुभव होता है, वह अर्थकी सत्ताके निश्चयमें परोक्ष-वृत्तिप्रतिबन्धकप्रयुक्त जो अज्ञान है, उस अज्ञानका नाश होनेपर भ्रम होता है; ऐसा भाव है ॥ ८१ ॥

सुखादि-वृत्तियोंमें अज्ञाननिवर्त्तकत्व न होनेसे उनमें व्यभिचार होगा; ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'ननु नाऽसात्रपि' इत्यादिसे ।

सर्वत्र अपरोक्षरूप वृत्तिसे अज्ञानका नाश होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि सुखादि-वृत्तियोंमें अज्ञानकी निवर्त्तकता नहीं देखनेमें आती, इसपर कहते हैं—'मैवम्' अर्थात् ऐसा मत कहो, क्योंकि सुख, दुःख आदि साक्षिभास्य हैं, अतः उनमें वृत्ति नहीं जाती; अतः व्यभिचारकी शङ्का नहीं है ॥ ८२ ॥

साक्षीका प्रश्नपूर्वक निरूपण करते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

नाटकदीपे साक्षी जीवो नेति प्रदर्शितः स पुनः ।
नेशोऽपि किन्तु शुद्धं प्रत्यग्ब्रह्मेति तत्त्वदीपेऽपि ॥ ८४ ॥
एको देव इति श्रुत्यनुरोधादीश्वरस्यैव ।
कश्चिद्भेदः साक्षीत्युपपादितमस्ति तत्त्वकौमुद्याम् ॥ ८५ ॥

स्वावच्छेदकदेहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकारत्वाच्च साक्षीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

कूटस्थदीपोक्तसाक्षी किं जीवकोटिः ? उत ईश्वरकोटिरिति विशये तन्निर्णयार्थमिदमाह—नाटकेति । नाटकदीपे यथा नृत्तशालास्थितो दीपः प्रभ्वादिकं प्रकाशयन् तदभावेऽपि प्रकाशते, एवं साक्षी जीवादिकं प्रकाशयन् सुषुप्तौ तदभावेऽपि प्रकाशत इति साक्षी न जीव इति दर्शितम् । तत्त्वदीपेऽपि साक्षी न जीवः नाऽपि ईश्वरः, 'केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिविरोधात् । किन्तु अस्पृष्टविभागं सर्वप्रत्यग्भूतं ब्रह्मेति दर्शित इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

'एको देवः' इति देवत्वश्रुतिविरोधात् परमेश्वरस्यैव कश्चिद्रूपभेदो जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षीति मतान्तरमाह—एक इति ॥८५॥

यह जो साक्षी कहलाता है, वह कौन है ? ऐसा प्रश्न होनेपर इसका उत्तर कहते हैं—पञ्चदशीके कूटस्थदीपनामक प्रकरणमें कहा गया स्थूल और सूक्ष्म—इन दो देहोंका जो अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य है, वह साक्षी है अर्थात् अपने अस्वावच्छेदकीभूत दो देहोंका साक्षात् ईक्षण करनेसे और स्वयं निर्विकार होनेसे उक्त चैतन्य ही 'साक्षी' कहलाता है ॥ ८३ ॥

कूटस्थदीपमें जो साक्षी कहा है, वह जीवकोटि है या ईश्वरकोटि ? ऐसा संशय होनेपर निर्णयके लिए कहते हैं—'नाटकदीपे' इत्यादिसे ।

पञ्चदशीके नाटकदीप प्रकरणमें—जैसे नृत्तशालास्थित दीप प्रभु (नृताध्यक्ष) आदिका प्रकाशन करता हुआ प्रभु आदिके अभावमें भी प्रकाशित होता है, वैसे ही साक्षी जीवादिका प्रकाशन करता हुआ सुषुप्तिमें जीवादिके न होनेपर भी प्रकाशित होता है—इससे साक्षी जीव नहीं है, ऐसा प्रदर्शित किया गया । तत्त्वदीपप्रकरणमें भी साक्षी न तो जीव है, न ईश्वर है, किन्तु शुद्ध प्रत्यग्ब्रह्म ही है; अन्यथा 'केवलो निर्गुणश्च' (साक्षी केवल और निर्गुण है) इस श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिए अस्पृष्टविभाग (निर्विभाग) सर्वप्रत्यग्भूत ब्रह्मरूप ही साक्षी है ॥ ८४ ॥

साक्षीके स्वरूपके निर्णयमें मतान्तर दिखलाते हैं—'एको' इत्यादिसे ।

'एको देवः' इत्यादि साक्षीके स्वरूपका निरूपण करनेवाली देवत्वश्रुतिके अनुरोधसे परमेश्वरका ही कोई भेद अर्थात् स्वरूपान्तर, जो कि जीवकी प्रवृत्ति और

उक्तं हि तत्त्वशुद्धाविदमंशो रूप्यकोटिरिव ।
स ब्रह्मकोटिरेव प्रतिभासाज्जीवकोटिरिति ॥ ८६ ॥

केचिदविद्योपाधिर्जीवः साक्षीति भाषन्ते ।
अन्ये त्वन्तःकरणोपाधिर्जीवः स हीति मन्यन्ते ॥ ८७ ॥

यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्थले वस्तुतः शुक्तिकोट्यन्तर्गतोऽपि इदमंशः प्रतिभासतो रजतकोटिः—रजताभिन्नः, तथा ब्रह्मकोटिरेव साक्षी प्रतिभासतो जीवकोटिरिति मतान्तरमाह—उक्तं हीति ॥ ८६ ॥

अविद्योपाधिको जीवः साक्षाद् द्रष्टृत्वात् कर्तृत्वाद्यारोपभाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात् साक्षीति मतान्तरमाह—केचिदिति । 'एको देवः' इति श्रुतिस्तु वास्तवब्रह्माभेदाभिप्रायेति भावः । अविद्योपाधिको जीवो न साक्षी, पुरुषान्तरान्तःकरणादीनामपि पुरुषान्तरं प्रति स्वान्तःकरणभासकसाक्षिसंसर्गाविशेषेण प्रत्यक्षत्वापत्तेः, किन्तु अन्तःकरणोपाधिको जीव एव स इति मतान्तरमाह—अन्ये

निवृत्तिका अनुमोदन करनेवाला और स्वयं उदासीन है, वही 'साक्षी' कहलाता है; ऐसा तत्त्वकौमुदीग्रन्थमें उपपादन किया है ॥ ८५ ॥

इसी विषयमें तत्त्वशुद्धिकारका मत कहते हैं—'उक्तम्' इत्यादिसे ।

तत्त्वशुद्धि ग्रन्थमें कहा गया है कि जहाँ 'इदं रजतम्' (सीपके टुकड़ेमें 'यह चाँदी है) ऐसा भ्रम होता है, वहाँ जैसे वास्तवमें इदमंश शुक्तिकोटिके अन्तर्गत होनेपर भी प्रतिभासमात्रसे रजतकोटि (रजतसे अभिन्न-सा) प्रतीत होता है; वैसे ही यद्यपि वस्तुतः साक्षी ब्रह्मकोटि ही है, तथापि प्रतिभासतः जीवकोटि-सा प्रतीत होता है ॥ ८६ ॥

इस विषयमें और भी मत दर्शाते हैं—'केचिद०' इत्यादिसे ।

कई एक तो कहते हैं कि अविद्योपाधि जीव, साक्षात् द्रष्टा होनेसे और कर्तृत्वादि आरोपका भागी होनेपर भी स्वयं उदासीन होनेसे साक्षी है; और 'एको देवः' इत्यादि श्रुति तो वास्तव ब्रह्माभेदका बोधन करती है । अन्यमतवाले यों कहते हैं—अविद्योपाधिक जीवको साक्षी माननेमें अन्य पुरुषके अन्तःकरण आदिमें भी, पुरुषान्तरके प्रति अपने अन्तःकरणके भासक साक्षीका संसर्ग होनेसे प्रत्यक्षत्वापत्ति होगी, अतः अविद्योपाधिकको साक्षी मानना ठीक नहीं है, किन्तु अन्तःकरणोपाधिक जीव

१५. अविद्यादीनामावृतानावृतसाक्षिचैतन्यप्रकाश्यत्ववादः

ननु चिन्मात्रावारकतमसा स्वयमावृतः साक्षी ।
स कथमविद्यादीनामवभासयिता भवेदिति चेत् ॥ ८८ ॥
राहुच्छन्नश्चन्द्रो राहुं यद्वत् प्रकाशयति ।
तमसाऽऽवृतोऽपि साक्षी तमः प्रकाशयति तद्वदित्याहुः ॥८९॥
साक्ष्यवभास्यसुखादौ संदेहादेरदर्शनतः ।
साक्षिणमपहाय तमोऽन्यत्रैवाऽऽवृतिकृदित्यपरे ॥ ९० ॥

त्विति । विशिष्टोपहितयोर्भेदस्य सिद्धान्तसंमतत्वादन्तःकरणविशिष्टः प्रमाता तदुपहितः साक्षीति विवेक इति भावः ॥ ८७ ॥

ननूक्तरूपः साक्षी चैतन्यावारकाविद्यावृतः सन् कथमविद्यादिकमवभासयेदिति शङ्कते—नन्विति ॥ ८८ ॥

राहुवदविद्या स्वावृतप्रकाशकप्रकाश्येति मतेन परिहरति—राहुच्छन्न इति ॥ ८९ ॥

वस्तुतस्तु साक्षिभास्याविद्याहंकारसुखादावावरणकार्यसंदेहाद्यदर्शनादज्ञानं साक्षिचैतन्यं विहायाऽन्यत्र चैतन्ये आवरणं करोतीति मतान्तरमाह—साक्षीति ॥ ९० ॥

ही साक्षी है अर्थात् विशिष्ट और उपहितोंका भेद सिद्धान्तसम्मत होनेसे अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य प्रमाता और अन्तःकरणोपहित चैतन्य साक्षी है, ऐसा विवेक करते हैं ॥ ८७ ॥

'ननु' इत्यादि। शङ्का करते हैं कि उक्तरूप साक्षी, स्वयं चैतन्यमात्रकी आवारक अविद्यासे आवृत होनेसे, अविद्यादिका अवभास करनेवाला कैसे बन सकता है? अर्थात् स्वयं आवृत रह कर औरोंका प्रकाशन किस तरह कर सकेगा ? ॥ ८८ ॥

पूर्वोक्त शङ्काका परिहार कहते हैं—'राहुच्छन्नश्चन्द्रो' इत्यादिसे ।

जैसे राहुसे आच्छादित (आवृत) चन्द्र राहुका प्रकाश करता है, वैसे ही अविद्यासे आवृत साक्षी भी अविद्या आदिका प्रकाश करता है अर्थात् राहुकी नाँई अविद्या स्वावृत प्रकाशसे प्रकाश्य है ॥ ८९ ॥

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'साक्ष्यवभास्य०' इत्यादिसे ।

वास्तव विचारसे तो साक्षिभास्य अविद्या, अहंकार और सुखादिमें आवरणके कार्य सन्देह आदि देखनेमें नहीं आते, अतः साक्षिचैतन्यको छोड़कर अन्य चैतन्यमें अविद्या आवरण करती है; ऐसा कई एक वेदान्तैकदेशियोंका मत है ॥९०॥

साक्षी चेदज्ञानानावृतरूपो भवेत्तर्हि ।
तद्रूपोऽप्यानन्दः संततमेव प्रकाशेत ॥ ९१ ॥

इति चेदयमानन्दो भासत एवाऽत एव खलु ।
आत्मनि परमप्रेमास्पदत्वमिति केचिदत्राऽऽहुः ॥ ९२ ॥

आनन्दो मयि नाऽस्ति न भासत इत्यनुभवानुसारेण ।
आनन्दांशे साक्षिण आवरणं केचिदाचख्युः ॥ ९३ ॥

१६. अहंकारादिस्मृतिसिद्ध्यर्थसंस्काराधानवादः

नित्येन साक्षिणा तत्संस्कारोत्पादनायोगात् ।
तद्भास्याहंकाराद्यनुसंधानं कथं भवेदिति चेत् ॥ ९४ ॥

ननु साक्षिण्यावरणानभ्युपगमे तस्याऽऽनन्दरूपताऽपि भासेतेत्याशङ्क्य इष्टापत्त्या परिहरति श्लोकद्वयेन—साक्षीति ॥ ९१ ॥

इति चेदिति । निगदव्याख्यानमेतत् ॥ ९२ ॥

अनुभवानुसारिणां मतमाह—आनन्दो मयीति । सुगममेतत् । साक्षिण्यविद्याकल्पितभेदेनाऽऽवरणानावरणयोरविरोधादिति भावः ॥ ९३ ॥

ननु कथं साक्षिभास्याहंकारादीनामनुसंधानम्? नष्टज्ञानसूक्ष्मावस्थानरूपसंस्कार-

---

यदि साक्षीमें आवरण नहीं मानेंगे, तो उसकी आनन्दरूपता भी भासेगी; ऐसी आशङ्का करके इस विषयमें इष्टापत्ति मानकर दो श्लोकोंसे परिहार करते हैं—'साक्षी' इत्यादिसे ।

साक्षी यदि अज्ञानसे आवृत न होगा, तो साक्षीरूप आनन्द सदा प्रकाशित रहेगा, ऐसा यदि कहो तो ठीक ही है, क्योंकि उक्त आनन्द भासता ही है, इसीसे तो आत्मामें परमप्रेमास्पदता बनी रहती है; ऐसा कई एक अन्य मतवाले कहते हैं ॥९१,९२॥

अब इस विषयमें अनुभवानुसारियोंका मत दर्शाते हैं—'आनन्दो' इत्यादिसे ।

'मुझमें आनन्द नहीं है और भासता नहीं है' ऐसा अनुभव होता है; इस अनुभवके अनुसार साक्षीका आनन्दांशमें आवरण है, ऐसा कई एक कहते हैं अर्थात् साक्षीमें अविद्याकल्पितभेदसे आवरण और अनावरण दोनोंका विरोध नहीं है ॥ ९३ ॥

'नित्येन' इत्यादि । ज्ञानके रहते नष्ट ज्ञानके सूक्ष्मावस्थानरूप संस्कारका होना

यद्वृत्त्युपहितसाक्षिणि यद्भाति तदा तदीयसंस्कारः ।
इति नियमाद्विषयान्तरवृत्तिजसंस्कारतस्तदित्याहुः ॥ ९५ ॥
केचिदहंकारावच्छिन्नतया साक्ष्यनित्यतः ।
संस्कारस्तेनाऽहंकारस्मरणोपपत्तिरिति ॥ ९६ ॥

स्य ज्ञाने सति अयोगेन नित्येन साक्षिणा तदाधानासंभवादिति शङ्कते—नित्येनेति ॥ ९४ ॥

यद्वृत्त्यवच्छिन्ने साक्षिणि यत् प्रकाशते तद्वृत्त्या तद्गोचरसंस्कार आधीयत इति नियमात् अहंकारादीनां च स्वगोचरवृत्त्यभावे घटादिविषयान्तरगोचरवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिभास्यत्वेन तादृशवृत्तिजन्यसंस्कारवत्तया अनुसंधानमुपपद्यत इति मतेन समाधत्ते—यद्वृत्तीति । एतन्नियमानभ्युपगमे स्ववृत्त्या स्वगोचरसंस्काराधानापत्तेर्वृत्तिगोचरवृत्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्याकारवृत्त्या अन्यगोचरसंस्काराधाने विषयव्यवस्थानुपपत्तेः स्वाकारवृत्त्यैव स्वगोचरसंस्काराधानमिति नियमः । तथा च अहंकारादिषु स्वाकारवृत्त्यभावेऽपि स्वभासकस्य साक्षिणः स्वावच्छिन्नत्वेनाऽनित्यतया तेन संस्काराद्युपपत्तिरिति मतान्तरमाह—केचिदिति ॥ ९६ ॥

योग्य नहीं है और नित्य साक्षीसे संस्कारके आधानकी सम्भावना ही जब नहीं है, तब साक्षीसे भास्य अहङ्कारादिका अनुसन्धान कैसे होगा ? यदि ऐसी आशंका हो, तो उसका परिहार करते हैं—'यद्वृत्त्यु०' इत्यादिसे। 'जिस वृत्तिसे अवच्छिन्न साक्षीमें जो प्रकाशित होता है, उस वृत्तिसे तद्गोचर संस्कारका आधान होता है' ऐसा नियम होनेके कारण अहङ्कारादिमें स्वगोचर वृत्तिका अभाव है; अतः अन्य घटादिविषयक वृत्तिसे अवच्छिन्न साक्षीसे उनका भास होता है, इसलिए उक्त वृत्तिजन्य संस्कारवत्तासे अहंकारादिका अनुसन्धान उपपन्न हो सकेगा। यदि ऐसा नियम न मानें, तो स्ववृत्तिमें स्वगोचरसंस्काराधानकी आपत्ति होगी और वृत्तिगोचर अन्य वृत्ति मानी जाय, तो अनवस्थाका प्रसंग आता है, ऐसा भाव है ॥ ९४,९५ ॥

अन्याकार वृत्तिसे अन्यगोचर संस्कारका आधान होता है, ऐसा माननेमें विषयकी व्यवस्था उपपन्न नहीं होती, अतः स्वाकारवृत्तिसे ही स्वगोचर संस्कारका आधान होता है, ऐसा नियम माना जाता है, इस परिस्थितिमें अहङ्कारादिमें स्वाकारवृत्तिका अभाव होनेपर भी स्वभासक साक्षीकी स्वावच्छिन्नत्वरूपसे अनित्यता होनेके कारण संस्कारादिकी उपपत्ति होगी; ऐसा मतान्तर दर्शाते हैं—'केचिद०' इत्यादिसे।

अहमाकारां वृत्तिमविद्यावृत्तिं समाश्रित्य ।
संस्कारसंभवेन स्मृत्युपपत्तिं प्रसाधयन्त्यन्ये ॥ ९७ ॥
अपरे त्वहमिति वृत्तिरुपासनवन्मानसी न तु ज्ञानम् ।
मानाजन्यतयाऽतः संस्कारादिर्भवेदिति प्राऽऽहुः ॥ ९८ ॥
अन्ये तु न क्रियाऽहंवृत्तिर्ज्ञानं प्रमाणजन्यत्वात् ।
नाऽतश्चाऽहंकाराद्यनुसंधानेन दोष इत्याहुः ॥ ९९ ॥

'सुखमहमस्वाप्सम्' इति सुप्तोत्थितस्मृतेरुपपादनायाऽवश्यकल्प्यामहमाकारां वृत्तिमविद्यावृत्तिमङ्गीकृत्याऽहंकारादिषु संस्काराद्युपपत्तिं प्रसाधयतां मतमाह—**अहमाकारामिति** ॥ ९७ ॥

अहमित्याकारा अन्तःकरणवृत्तिरेव । सा च उपासनावन्न ज्ञानम्, क्लृप्तप्रमाणाजन्यत्वात् ततश्च संस्काराद्युपपत्तिरिति मतान्तरमाह—**अपरे त्विति** ॥९८॥

उपास्तिर्हि वस्तुप्रमाणातन्त्रत्वात् पुरुषप्रयत्नाधीनत्वाच्चाऽस्तु मानसी क्रिया । अहमाकारवृत्तिस्तु ज्ञानमेव, मनोरूपप्रमाणजन्यत्वात् वस्तुतन्त्रत्वाच्च । अतः संस्कारसंभवेनाऽहंकाराद्यनुसंधाने न काचिदनुपपत्तिरिति मतान्तरमाह—**अन्ये त्विति** ॥९९॥

अहङ्कारावच्छिन्नत्वरूपसे अहङ्कारका अवभासक साक्षी अनित्य है, अतः उससे संस्कार होगा और उस संस्कारसे अहङ्कारका स्मरण भी उपपन्न होगा ॥९६॥

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'अहमाकाराम्' इत्यादिसे ।

'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखसे सोया), ऐसा जागनेपर पुरुषको स्मरण होता है, इस स्मरणका उपपादन करनेके लिए अहमाकार वृत्तिकी कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी, इसी अहमाकार वृत्तिको अविद्यावृत्ति मानकर अहङ्कारादिमें संस्कारका संभव होनेसे स्मरणकी उपपत्ति होती है, यों अन्यमतवाले कहते हैं ॥९७॥

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'अपरे तु' इत्यादिसे ।

'अहम्' इत्याकारक जो वृत्ति होती है, वह अन्तःकरणकी ही वृत्ति है और वह उपासनाकी नाईं मानसी क्रिया है, ज्ञान नहीं है; क्योंकि क्लृप्त प्रमाणसे जन्य नहीं है, अतः उससे संस्कारादि अवश्य उत्पन्न होंगे, ऐसा अन्य मतवाले कहते हैं ॥ ९८ ॥

उपासना वस्तु और प्रमाणके अधीन होने और पुरुषप्रयत्नके अधीन होनेसे मानसी क्रियारूप भले ही हो; परन्तु मनोरूप प्रमाणजन्य और वस्तुतन्त्र होनेसे अहमाकारवृत्तिको तो ज्ञानरूप ही मानना उचित है; अतः संस्कारका संभव

इत्थं च बाह्यविषयापरोक्षवृत्त्याऽऽवृतिक्षतिः सिद्धा ।
नन्वेवमिदंवृत्त्याऽज्ञाने नष्टे भ्रमो न स्यात् ॥ १०० ॥
अत्रेदंवृत्त्याऽपरमिदमंशाज्ञाननाशेऽपि ।
शुक्त्यंशाज्ञानवशाद्रजताध्यासोपपत्तिरित्याहुः ॥ १०१ ॥
अन्ये त्विदमाकारकवृत्त्यावरणांशनाशेऽपि ।
विक्षेपांशोपहितादिदमंशाज्ञानतः सेति ॥ १०२ ॥

इयता प्रबन्धेन प्रतिपादितं बाह्यापरोक्षवृत्त्यैवाऽऽवरणाभिभव इति नियममुपसंहृत्याऽस्याऽपि नियमस्य शुक्तिरजतभ्रमस्थलेऽतिप्रसङ्गः शङ्कते—इत्थमिति। आवृतिक्षतिः आवरणाभिभव इत्यर्थः । उपादानाभावादिति भावः ॥ १०० ॥

इदमाकारवृत्त्येदमंशाज्ञानस्य नाशेऽपि 'न पश्यामि' इत्यनुभवेन शुक्त्यंशाज्ञानसत्त्वेन तद्वशाद्रजताध्यासोपपत्तिरिति परिहरति—अत्रेति ॥ १०१ ॥

इदमंशसम्भिन्नत्वेन प्रतीयमानस्य रजतस्येदमंशाज्ञानमेवोपादानम् । तस्येदमा-

---

होनेसे अहङ्काराद्यनुसन्धानमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है, ऐसा मतान्तर दर्शाते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

अन्य तो यों कहते हैं कि अहंवृत्ति क्रिया नहीं है; किन्तु ज्ञान है, क्योंकि वह प्रमाणसे जन्य है, इससे अहङ्कारादिके अनुसन्धानमें किसी दोषकी आपत्ति नहीं आती ॥ ९९ ॥

इतने ग्रन्थसन्दर्भसे प्रतिपादित जो—'बाह्य अपरोक्ष वृत्तिसे ही आवरणाभिभव होता है'—नियम दर्शाया, उसका उपसंहार करके उस नियमका भी शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलमें अतिप्रसङ्ग है, ऐसी शङ्का करते हैं—'इत्थं च' इत्यादिसे ।

उक्त प्रकारसे बाह्य विषयकी अपरोक्ष वृत्तिसे आवृति-क्षतिके (आवरणका अभिभव) सिद्ध होनेपर शुक्तिरजतस्थलमें इदंवृत्तिसे अज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर भ्रम नहीं होगा; क्योंकि भ्रमका उपादान नष्ट हो गया है ॥ १०० ॥

उपर्युक्त शङ्काका परिहार करते हैं—'अत्रेदम्' इत्यादिसे ।

यहाँ यद्यपि 'इदंवृत्ति' से इदमंशके अज्ञानका नाश हुआ है, तथापि 'न पश्यामि' (मैं नहीं देखता) इत्याकारक शुक्त्यंशके अज्ञानके विद्यमान होनेसे तद्वशात् रजताध्यास बन सकता है, ऐसा परिहार है ॥ १०१ ॥

इस विषयमें और भी मतान्तर दर्शाते हैं—'अन्ये' इत्यादिसे ।

इदमंशसे मिलित होकर प्रतीयमान रजतके इदमंशका अज्ञान ही उपादान है,

अपरे त्विदमाकारा वृत्तिर्नाऽस्त्येव रूप्यधीभिन्ना ।
तस्याः कथमावरणाभिभावकत्वप्रसङ्ग इत्याहुः ॥ १०३ ॥

इतरे त्वेकैवेदंवृत्तिर्भ्रमहेतुरन्यवैफल्यात् ।
अध्यस्तं त्विह रूप्यं साक्षिप्रतिभास्यमित्याहुः ॥ १०४ ॥

ज्ञानद्वयमिति पक्षे त्विदमिति वृत्तिर्भ्रमे हेतुः ।
अन्येदं रजतमिति स्यादिदमध्यस्तगोचरेत्येके ॥ १०५ ॥

कारवृत्त्याऽऽवरणांशनाशेऽपि विक्षेपांशानिवृत्त्या तत्सहितेदमंशाज्ञानाद्रजताध्यासोपपत्ति-रिति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति ॥ १०२ ॥

इदं रूप्यमिति विशिष्टगोचरैव वृत्तिर्दोषादिसहकृतेन्द्रियसंप्रयोगादुत्पद्यते, न तद्व्यतिरेकेणेदमाकारा वृत्तिरस्ति । तस्या आवरणाभिभावकत्वप्रसङ्गो निरालम्बन इति कवितार्किकचक्रवर्तिमतमाह—अपरे त्विति ॥ १०३ ॥

अधिष्ठानज्ञानस्याऽध्यासकारणत्वाद्रूप्याध्यासकारणमिदमाकारा वृत्तिरेकैव । न त्वन्या रूप्याकारा, प्रयोजनाभावात् । रूप्यभानं तु इदंवृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिचैतन्ये-नैवोपपद्यत इति मन्यमानानां मतमाह—इतरे त्विति ॥ १०४ ॥

ज्ञानद्वयाङ्गीकारपक्षे रजताध्यासहेतुभूतेदंवृत्तिरेका, अन्या तु इदमध्यस्तरजतो-

---

इसके इदमाकार वृत्तिसे आवरणांशका नाश होनेपर भी विक्षेपांशकी निवृत्ति न होनेसे तादृश विक्षेपांशसे उपहित इदमंशाज्ञानसे रजताध्यासकी उपपत्ति हो सकती है, ऐसा अन्य कहते हैं ॥ १०२ ॥

'अपरे' इत्यादि । अपर मतवालेका कहना है कि 'इदं रजतम्' (यह रूप्य है) ऐसी विशिष्टगोचर वृत्ति ही दोषादिसहकृत इन्द्रियके सम्प्रयोगसे उत्पन्न होती है, इससे अतिरिक्त इदमाकारा कोई वृत्ति है ही नहीं, तो फिर इस वृत्तिमें आवरणा-भिभावकत्वके कथनका प्रसंग कहाँ रहा? ऐसा कवितार्किकचक्रवर्त्ती नृसिंहभट्टा-चार्यका मत है ॥ १०३ ॥

अधिष्ठानज्ञान अध्यासमें कारण माना जाता है, अतः इदमाकारा एक ही वृत्ति रूप्याध्यासकी कारण बनती है; अन्य रूप्याकारा नहीं होती, क्योंकि उसका प्रकृतमें प्रयोजन नहीं है । यहाँ रूप्यभान तो इदमाकारवृत्तिसे अभिव्यक्त साक्षिचैतन्यसे ही उपपन्न होता है, ऐसा कई एकका मत है ॥ १०४ ॥

इसमें जो दो ज्ञानोंको माननेवाले हैं, उनके पक्षमें तो भ्रममें हेतु अर्थात् रजता-

इदमिति मानसवृत्तिरविद्यावृत्तिस्तु तद्भिन्ना ।
रजताकारा तस्या नेदंविषयत्वमित्यपरे ॥ १०६ ॥

१७. अपरोक्षानुभूत्यर्थं वृत्तेर्निर्गमवादः

नन्वविनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्नेनैव साक्षिबोधेन ।
सकलविषयावभासोपपत्तिरिति वृत्तिनिर्गमो व्यर्थः ॥ १०७ ॥

भयगोचरा, 'इदं रजतं जानामि' इतीदमर्थतादात्म्येन रजतानुभवादिति मतान्तरमाह—ज्ञानद्वयमिति ॥ १०५ ॥

अध्यासात् पूर्वमिदमिति जायमाना वृत्तिर्मानसी, रजताकारा तु इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामरूपतयाऽविद्यावृत्तिः । तस्याश्च नेदंविषयत्वम् । इदमर्थतादात्म्यानुभवस्तु अधिगतेदंत्वविषयत्वसंसर्गेण युज्यत इति मतान्तरमाह—इदमिति ॥ १०६ ॥

परोक्षस्थल इवाऽपरोक्षवृत्तिस्थलेऽप्यविनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिचैतन्येनैव सकलविषयावभासोपपत्तेरनुमितिशाब्दयोरिव कारणवैलक्षण्योपपत्तेः वृत्तेर्विषयदेशकल्पनं वृथेति शङ्कते—नन्विति ॥ १०७ ॥

ध्यासकी उपादानभूत एक इदंवृत्ति ही है और इदम् और अध्यस्त रजत—इन दोनोंका अवलम्बन करनेवाली वृत्ति दूसरी है, क्योंकि 'इदं रजतं जानामि' (इस रजतको मैं जानता हूँ), यों इदमर्थके साथ तादात्म्यसे रजतका अनुभव होता है, ऐसा वृत्तिद्वयोपकल्पित दो ज्ञानोंको माननेवालेका मत है ॥ १०५ ॥

उक्त मतका प्रतिवाद करनेवालेका मत दर्शाते हैं—'इदमिति' इत्यादिसे ।

अध्याससे पूर्व उत्पन्न होनेवाली इदंवृत्ति मानसी क्रिया है; अविद्यावृत्ति तो इससे भिन्न है, क्योंकि इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न जो चैतन्य है, उस चैतन्यमें विद्यमान अविद्याके परिणामरूप रजताकार अविद्यावृत्ति होती है; उसको इदंविषयत्व नहीं है; इदमर्थके साथ तादात्म्यानुभव जो होता है, सो अधिगत (प्रथमोत्पन्न) इदंत्वविषयत्वके संसर्गसे बनता है, ऐसा अपर मतवाले मानते हैं ॥ १०६ ॥

'नन्व०' इत्यादि । परोक्षस्थलकी नाईं अपरोक्षवृत्तिस्थलमें भी अनिर्गत वृत्तिसे अवच्छिन्न साक्षिचैतन्यसे ही सकल विषयोंका अवभास उपपन्न होनेके कारण वृत्तिनिर्गमनका मानना व्यर्थ है अर्थात् अनुमिति और शब्दज्ञान—इन दोनोंकी नाईं कारणकी विलक्षणता तो उपपन्न है फिर वृत्तिका बहिर्देशसे विषयदेशमें गमनकी कल्पना वृथा है, ऐसी शंका करके उत्तर श्लोकसे समाधान करते हैं ॥ १०७ ॥

अत्र वदन्त्यपरोक्षे विषयाधिष्ठानभूतचिद्व्यक्त्यै ।
तन्निर्गमाभ्युपगमो युक्तो न तु परोक्ष इति केचित् ॥ १०८ ॥
साक्षाच्चित्संसर्गाद्दुःखादिष्वापरोक्ष्यदर्शनतः ।
तत्सिद्धये घटादौ वृत्तेर्निर्गमनमित्यन्ये ॥ १०९ ॥
प्रत्यक्षे गन्धादौ स्पष्टत्वं वृत्तिनिर्गमाधीनम् ।
दृष्टमतोऽन्यत्राऽपि स्पष्टत्वायैतदित्यपरे ॥ ११० ॥

तादात्म्यसंबन्धसंभवे स्वरूपसंबन्धस्य कल्पनायोगात् प्रत्यक्षस्थले तादात्म्येन विषयाधिष्ठानचैतन्यमेव विषयप्रकाश इति तदभिव्यक्त्यर्थं युक्तो वृत्तिनिर्गमाभ्युपगमः। परोक्षस्थले तु न तथा। तत्र वृत्तिनिर्गमद्वाराभावेनाऽगत्या स्वरूपसंबन्धेनाविनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव विषयप्रकाश आश्रियत इति मतेन समाधत्ते—अत्रेति ॥ १०८ ॥

अहङ्कारसुखदुःखादिषु साक्षाच्चैतन्यसंसर्गेणैवाऽपरोक्षदर्शनादत्राऽपि तथैवेति तत्सिद्धये घटादौ वृत्तेर्निर्गमः समभ्युपगम्यत इति मतान्तरमाह—साक्षादिति ॥१०९॥

परोक्षापेक्षया प्रत्यक्षे गन्धादावनुभूयमानं स्पष्टत्वं वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यतादात्म्यप्रयुक्तं दृष्टमित्यतोऽन्यत्राऽपि स्पष्टत्वार्थं वृत्तिनिर्गमनमपेक्षत इति मतान्तरमाह—प्रत्यक्ष इति ॥ ११० ॥

'अत्र' इत्यादि। इस विषयमें कई एक कहते हैं कि जहाँ तादात्म्य-सम्बन्धका सम्भव हो, वहाँ स्वरूप सम्बन्धकी कल्पना योग्य नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष-स्थलमें तादात्म्यसे विषयाधिष्ठान चैतन्य ही विषयप्रकाश है, अतः उसकी अभिव्यक्तिके लिए वृत्तिनिर्गमका मानना युक्त है। और परोक्षस्थलमें तो वृत्तिके निर्गमका द्वार न होनेसे अगत्या स्वरूप सम्बन्धसे अनिर्गत वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यको ही विषयप्रकाश मानना पड़ता है, इस मतसे पूर्वोक्त शङ्काका समाधान दर्शाया ॥ १०८ ॥

'साक्षात्' इत्यादि। अहङ्कार और सुख-दुःखादिके विषयमें जैसे साक्षात् चैतन्यके संसर्गसे ही अपरोक्षत्व होता है, वैसे ही इस घटादि विषयमें भी अपरोक्षत्वकी सिद्धिके लिए वृत्तिके निर्गमनका स्वीकार किया जाता है, ऐसा मतान्तर है ॥ १०९ ॥

'प्रत्यक्षे' इत्यादि। प्रत्यक्ष गन्धादिमें स्पष्टत्व वृत्तिनिर्गमनाधीन देखा जाता है अर्थात् परोक्षकी अपेक्षा प्रत्यक्ष गन्धादिमें जो स्पष्टता प्रतीत होती है, वह स्पष्टता वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यतादात्म्यप्रयुक्त ही देखनेमें आती है, अतः अन्यत्र भी स्पष्टताके लिए वृत्तिनिर्गमन अपेक्षित है; ऐसा अपर मानते हैं ॥ ११० ॥

नन्वेवं स्पष्टत्वं विषयावरणभिभूतिरस्याश्च ।
अविनिर्गतया वृत्त्या सिद्धेः किं वृत्तिनिर्गमेनेति ॥ १११ ॥
अत्रैतदनिर्गमनेन ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधस्य ।
निर्वाहः स्यादिति तल्लाभार्थं वृत्तिनिर्गमापेक्षा ॥ ११२ ॥

नन्वेवमावरणाभिभूतिरेव स्पष्टतेति पर्यवसन्नम् । तस्याश्चाऽनिर्गतवृत्त्यैव सिद्धेः किं वृत्तिनिर्गमनेन ? इति शङ्कते—**नन्विति** । नन्वेवं वृत्तेर्भिन्नदेशस्थत्वात् कथं तया विषयगताज्ञाननिवृत्तिरिति चेत्, न; यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति यद्विषयावारकम्, तत् तदीयतद्विषयकज्ञाननिवर्त्यमिति ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधप्रयोजकस्य नियमस्य सत्त्वात् इति भावः ॥ १११ ॥

वृत्तिनिर्गमानभ्युपगमे ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधप्रयोजकस्य दुर्निरूपत्वेन तयोर्विरोध-निर्वाहो न स्यात् । न च यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति इत्यादि तत्प्रयोजकमुक्तमिति वाच्यम्, परोक्षज्ञानेनाऽपि विषयगताज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गात् । तन्निर्गमाभ्युपगमे तु यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति यद्विषयावारकम्, तत् तदीयतदज्ञानाश्रयचैतन्यसंसर्गनियता-

---

वृत्तिनिगम अनावश्यक है, ऐसी शङ्का करते हैं—**'नन्वेवम्'** इत्यादिसे ।

पूर्व-श्लोकोक्त स्पष्टत्वका निर्गलित अर्थ तो आवरणका अभिभव ही हुआ, यह आवरणाभिभूति तो अविनिर्गत वृत्तिसे भी सिद्ध होती है, फिर वृत्तिविनिर्गम माननेका क्या प्रयोजन है ? यदि शङ्का हो कि वृत्ति भिन्नदेशस्थ है, अतः उस वृत्तिसे विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी ? तो इस शङ्काका निवारक एक नियम है कि जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवारक है, वह अज्ञान उस पुरुषके तद्विषयक ज्ञानसे निवर्त्य होता है । यह ज्ञान और अज्ञानके विरोधका प्रयोजक नियम होनेसे श्लोकोक्त शङ्का बनी रही ॥ १११ ॥

अब इस शङ्काका समाधान करते हुये वृत्तिनिर्गमकी आवश्यकता दर्शाते हैं—**'अत्रैतद०'** इत्यादिसे ।

यदि वृत्तिनिर्गम न मानें, तो ज्ञान और अज्ञानके विरोधका निर्वाह नहीं होता इसलिए वृत्तिनिर्गमकी अपेक्षा है अर्थात् वृत्तिनिर्गम न माननेमें ज्ञान और अज्ञानके विरोधका निरूपण न हो सकनेसे इन दोनोंके विरोधका निर्वाह नहीं होता । यदि कहो कि 'जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवरक हो, वह अज्ञान उस पुरुषके तद्विषयक ज्ञानसे निवर्त्य होता है' इत्यादि तत्प्रयोजक नियम ऊपर

विषयगताज्ञानस्य स्वसमानाधिकरणबोधनाश्यत्वे ।
सिद्धे वृत्तेरर्थान्निर्गमनं पर्यवस्यतीत्यन्ये ॥ ११३ ॥

सामानाधिकरण्ये सत्येव तमः प्रकाशनाश्यमिति ।
दृष्टानुरोधतस्तन्निर्गमनं सिध्यतीत्येके ॥ ११४ ॥

स्मलाभज्ञाननिवर्त्यमिति तत्प्रयोजकस्य निरूपयितुं शक्यत्वेन तयोर्विरोधनिर्वाहो भवतीति तदर्थं वृत्तिनिर्गमापेक्षेति मतेन समाधत्ते—अत्रेति ॥ ११२ ॥

विषयगताज्ञानस्य लाघवात् स्वसमानाधिकरणज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्धावर्थाद् वृत्तिनिर्गमः फलतीति मतान्तरमाह—विषयेति ॥ ११३ ॥

बाह्यप्रकाशस्य बाह्यतमोनिवर्तकत्वं सामानाधिकरण्ये सत्येव दृष्टमिति दृष्टानुरोधाद् वृत्तिनिर्गमः सिध्यतीति मतान्तरमाह—सामानाधिकरण्य इति ॥ ११४ ॥

कहा गया है, उसीसे निर्वाह होगा ? नहीं, नहीं होगा, क्योंकि ऐसा माननेपर परोक्ष ज्ञानसे भी विषयगत अज्ञानकी निवृत्तिका प्रसंग हो जायगा । वृत्तिका निर्गम माननेसे तो 'जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवारक होता है, वह उसी पुरुषके तद्विषयक अज्ञानके आश्रयभूत चैतन्यके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे निवर्त्य होता है'—इस रीतिसे ज्ञानाज्ञानके विरोधके प्रयोजक नियमका निरूपण हो सकता है, अतः विरोधके निर्वाहके लिए वृत्तिका निर्गमन अपेक्षित है, इस मतसे समाधान किया ॥ ११२ ॥

इस विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'विषयगता०' इत्यादिसे ।

जब विषयगत अज्ञान स्वसमानाधिकरण ज्ञानसे नष्ट होता है, ऐसा सिद्ध है, तब वृत्तिका निर्गमन अर्थात् ही पर्यवसित होता है, यों अन्य कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति विषयगत ज्ञानसे ही होती है, ऐसा जब लाघवसे सिद्ध ही है, तब वृत्तिका विषयदेशमें निर्गमन जरूर मानना पड़ेगा, क्योंकि बहिर्निर्गमनके बिना वृत्ति विषयदेशमें हो नहीं सकती, अतः वृत्तिनिर्गम अर्थात् सिद्ध होता है ॥ ११३ ॥

'सामानाधिकरण्ये' इत्यादि । अन्धकारकी निवृत्ति अन्धकारसमानाधिकरण प्रकाशसे होती है, ऐसा व्यवहारमें दृष्ट है, उसके अनुरोधसे वृत्तिका निर्गम सिद्ध होता है अर्थात् जैसे बाह्य प्रकाश बाह्य अंधकारका निवर्त्तक सामानाधिकरण्यसे ही होता है, वैसे ही वृत्ति विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति विषय देशमें जाकर ही करेगी, अतः वृत्तिका निर्गम सिद्ध होता है, ऐसा कई एक मानते हैं ॥ ११४ ॥

आवरणाभिभवार्थं मा भूत्तन्निर्गमापेक्षा ।
स्याच्चिदुपरागसिध्यै तदभेदव्यक्तयेऽथवेत्यन्ये ॥ ११५ ॥
इत्थं प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानाम् ।
तात्पर्येणाऽन्वयतो जीवपराभेदसंसिद्धिः ॥ ११६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीपरमशिवेन्द्र-
पूज्यपादशिष्यश्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रविरचित-
वेदान्तसिद्धान्तकल्पवल्ल्यां
प्रथमः स्तबकः समाप्तः ॥

चिदुपरागोऽभेदाभिव्यक्तिर्वा वृत्तिफलमिति मतयोस्तु तदर्थमेव वृत्तिनिर्गमनकल्पनमित्याह—आवरणेति ॥११५॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य सर्ववेदान्तसिद्धं प्रत्यग्ब्रह्माभेदमुपसंहरति—इत्थमिति ॥ ११६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्परमशिवेन्द्रपूज्यपाद-
शिष्यश्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रप्रणीतश्रीवेदान्तसिद्धान्त-
कल्पवल्लीव्याख्यायां केसरवल्ल्याख्यायां
प्रथमः स्तबकः ॥

'आवरणा०' इत्यादि । आवरणके अभिभवके लिए वृत्तिनिर्गमनकी अपेक्षा भले ही न हो, किन्तु चिदुपरागकी (चैतन्यके साथ विषयके सम्बन्धकी) सिद्धिके लिए अथवा अभेदाभिव्यक्तिके लिए वृत्तिके निर्गमनकी कल्पना आवश्यक है, ऐसा कई लोग कहते हैं ॥ ११५ ॥

प्रासंगिक समाप्त करके सब वेदान्तोंसे सिद्ध प्रत्यग्ब्रह्मके अभेदका उपसंहार करते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यरूपसे यथार्थ अन्वय हो जाता है, इसलिए जीव और परमात्माके अभेदकी सिद्धि हो जाती है ॥ ११६ ॥

महामहोपाध्याय पण्डितवर श्रीहाथीभाईशास्त्रिविरचित-सिद्धान्तकल्पवल्ली-
भाषानुवादमें प्रथम स्तबक समाप्त ।
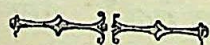
द्वितीयः स्तबकः

१. श्रुतिप्रत्यक्षयोः प्राबल्यदौर्बल्यवादः ।

नन्वद्वैते ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयः कथं सिध्येत् ।
विश्वगतसत्त्वविषयप्रत्यक्षविरोधदर्शनादिति चेत् ॥ १ ॥
इह तत्त्वशुद्धिकाराः प्रत्यक्षं नो घटादि गृह्णाति ।
किन्तु घटाद्यनुविद्धं सन्मात्रमतो न विरोध इति ॥ २ ॥

प्रथमस्तबके सर्ववेदान्तानामद्वितीयब्रह्मणि समन्वयं व्युत्पाद्य तस्य दृढीकरणाय प्रमाणान्तराविरोधं व्यवस्थापयिष्यन् प्रथमं घटः सन्नित्यादिघटादिप्रपञ्चगतसत्त्व-ग्राहिप्रत्यक्षविरोधात् कथमद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयः सिध्येदिति प्रत्यक्ष-विरोधं शङ्कते—नन्विति ॥ १ ॥

यदि प्रत्यक्षं घटादिप्रपञ्चं तत्सत्त्वं वा गृह्णीयात्, तदा परं विरोधः । न तथा गृह्णाति, किन्तु अधिष्ठानत्वेन घटाद्यनुगतं सन्मात्रमेव । तथा च प्रत्यक्षमपि सद्रूपब्रह्माद्वैतसिध्यनुकूलमेवेति मतेन परिहरति—इहेति । यथा भ्रमेष्विन्द्रियान्वय-

---

प्रथम स्तबकमें ब्रह्ममें सब वेदान्तोंके समन्वयका प्रतिपादन किया । पुनः उसीको दृढ़ करनेके लिए अन्य प्रमाणके साथ अविरोधकी व्यवस्था करते हुए ग्रन्थकार पहले—'घटः सन्' इत्यादि घटादि प्रपंचगत सत्त्वग्राही जो प्रत्यक्ष होता है, उसके साथ विरोध होनेसे अद्वैत बह्ममें वेदान्तोंका समन्वय कैसे सिद्ध होगा ? यों प्रत्यक्ष-विरोधको आगे रखकर शङ्का करते हैं—'नन्वद्वैते' इत्यादिसे ।

अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तसमन्वय कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि प्रत्यक्षसे विश्वके अस्तित्वकी प्रतीति होती है ॥ १ ॥

समाधान करते हैं—'इह तत्त्व०' इत्यादिसे ।

इस विषयमें तत्त्वशुद्धिग्रन्थकारका कहना है कि प्रत्यक्ष यदि घटादि प्रपञ्चका अथवा तद्गत सत्त्वका ग्रहण करे, तो विरोध होगा, परन्तु प्रत्यक्ष ऐसा नहीं करता, किन्तु अधिष्ठानरूपसे घटादिमें अनुविद्ध सन्मात्रका ही ग्रहण करता है, अतः विरोध नहीं है । प्रत्युत प्रत्यक्ष भी सद्रूप ब्रह्माद्वैतकी सिद्धिमें अनुकूल है । जैसे शुक्तिरजतादि भ्रममें इन्द्रियका अन्वय और व्यतिरेक, अधिष्ठानके

अस्तु घटादेरिन्द्रियवेद्यत्वमथाऽपि न विरोधः ।
न्यायसुधोदितरीत्या सद्बुद्धेर्ब्रह्मसत्त्वविषयत्वात् ॥ ३ ॥

संक्षेपकोक्तरीत्याऽक्षस्याऽपि घटादिसत्त्वविषयत्वम् ।
भवतु तथापि न तत्त्वावेदकता मानतेति न विरोधः ॥ ४ ॥

व्यतिरेकयोरधिष्ठानेदमंशग्रहण एवोपक्षयः, अध्यस्तरजतादेस्तु भ्रान्त्यैव प्रतिभासः, तथा सर्वत्रेन्द्रियैः सन्मात्रग्रहणम्, मायिकघटतद्भेदादेस्तु भ्रान्त्यैव प्रतिभास इति भावः ॥ २ ॥

अस्तु घटादिप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षवेद्यत्वम्, तथापि न विरोधः, 'घटः सन्' इत्यादि-सद्बुद्धेरधिष्ठानब्रह्मसत्त्वविषयत्वात् । सत्त्वान्तरविषयत्वकल्पने गौरवादिति मतान्तर-माह—अस्त्विति ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षस्य घटादिगताध्यस्तसत्त्वग्राहित्वेऽपि पराग्विषयत्वेन तस्य न तत्त्वा-वेदकत्वं प्रामाण्यम् । श्रुतेस्तु तत्प्रामाण्यमस्तीति न तद्विरोध इति मतान्तरमाह—संक्षेपकेति ॥

इदमंशके ग्रहणमें उपक्षीण हो जाता है और अध्यस्त रजतादिका प्रतिभास भ्रान्तिसे ही होता है, वैसे ही सर्वत्र इन्द्रियोंसे सन्मात्रका ग्रहण होता है और मायिक घटादि तथा उसके भेद आदिका प्रतिभास तो भ्रान्तिसे ही होता है ॥ २ ॥

इस विषयमें न्यायसुधाकारका मत कहते हैं—'अस्तु' इत्यादिसे ।

घटादि प्रपञ्चमें इन्द्रियवेद्यत्व (प्रत्यक्षवेद्यत्व) भले ही रहे, तथापि विरोध नहीं है, क्योंकि न्यायसुधामें 'घटः सन्' इस उदाहरणमें जो सद्बुद्धि होती है, वह अधिष्ठान ब्रह्मके ही सत्त्वको विषय करती है, कारण कि इस बुद्धिके विषय अन्य सत्त्वको माननेमें गौरव होता है, ऐसा निरूपण किया है ॥ ३ ॥

इसी विषयमें सर्वज्ञमुनिका मत दर्शाते हैं—'संक्षेपको०' इत्यादिसे ।

संक्षेपशारीरकके कथनके अनुसार यद्यपि प्रत्यक्षमें घटादिसत्त्वविषयत्व है तथापि वह घटादिगत अध्यस्त सत्त्वको ही विषय करता है, अतः पराग्विषय होनेसे उसमें तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य नहीं है और श्रुतिमें तो तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्यके होनेसे सर्वथा विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षसमधिगम्यं सत्त्वं जात्यादि न त्वबाध्यत्वम् ।
न विरुध्यते तदेतन्मिथ्यात्वेनेति चक्षते केचित् ॥ ५ ॥
यावद् ब्रह्मविनिश्चयमबाध्यतारूपसत्त्वस्य ।
प्रत्यक्षग्राह्यत्वेऽप्यविरोधः श्रुतिभिरित्यन्ये ॥ ६ ॥
अस्तु विरोधस्तदपि श्रुत्या निर्दोषया कनीयस्या ।
ज्यायोऽपि प्रत्यक्षं शङ्कितदोषं च बाध्यमित्यपरे ॥ ७ ॥

वर्तमानमात्रगोचरप्रत्यक्षेण कालत्रयाबाध्यत्वरूपसत्त्वग्रहणायोगात् तद्ग्राह्यं जात्यादिरूपमेव सत्त्वम् । तच्च मिथ्यात्वेन न विरुध्यत इति मतान्तरमाह—प्रत्यक्षेति ॥ ५ ॥

द्विविधं सत्त्वम्—यावद्ब्रह्मज्ञानमबाध्यत्वरूपं सर्वदैवाऽबाध्यत्वरूपं चेति । तत्राऽऽद्यस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वेऽपि मिथ्यात्वप्रतिपादकश्रुतिभिर्न विरोध इति मतान्तरमाह—यावदिति ॥ ६ ॥

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसत्यत्वग्राहिणोः श्रुतिप्रत्यक्षयोर्विरोधेऽपि दोषशङ्काकलङ्कितं प्रथमप्रवृत्तमपि प्रत्यक्षं निर्दोषत्वादपच्छेदन्यायेन परत्वाद्बलीयस्या श्रुत्या बाध्यत इति मतान्तरमाह—अस्त्विति ॥ ७ ॥

इस प्रसङ्गमें अन्य मत भी दिखलाते हैं—'प्रत्यक्ष०' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्षसे जो सत्त्व जाना जाता है, वह जात्यादिरूप सत्त्व है; अबाध्यत्वरूप नहीं है, क्योंकि वर्त्तमानमात्रको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष कालत्रयाबाध्यत्वरूप सत्त्वको ग्रहण नहीं कर सकता और वह जात्यादिरूप सत्त्व मिथ्यात्वका विरोधी नहीं है, ऐसा कई एक कहते हैं ॥ ५ ॥

'यावद् ब्रह्म०' इत्यादि । अन्य मतवालोंका कहना है कि सत्त्व दो प्रकारका होता है—एक तो ब्रह्मज्ञान जबतक न हो तबतक अबाधित रहनेवाला और दूसरा सर्वदैव अबाधित रहनेवाला । इन दोनोंमें से ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके पहले तक रहनेवाला अबाध्यत्वरूप जो प्रथम सत्त्व है, उसमें प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्यत्व होनेपर भी मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतिसे कोई विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

'अस्तु' इत्यादि । प्रपञ्चमें मिथ्यात्वबोधक श्रुति और सत्यत्वग्राही प्रत्यक्ष—इन दोनोंका विरोध भले ही हो, तथापि दोषशङ्कासे कलङ्कित प्रत्यक्षके प्रथमप्रवृत्त होनेपर भी उसका निर्दोष और पर होनेके कारण बलीयसी श्रुतिके द्वारा अपच्छेदन्यायसे* बाध होता है, ऐसा अन्य कहते हैं ॥ ७ ॥

---

* जैमिनीय पूर्वमीमांसाके षष्ठाध्यायके पञ्चम पादमें—'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'

श्रुतिरपि तात्पर्यवती बलीयसीत्याह भामतीकारः।
विवरणवार्तिककारास्त्वाहुः श्रुतिमात्रमिह बलीय इति ॥ ८ ॥

नन्वेवं 'यजमानः प्रस्तरः' इति यजमानस्य प्रस्तराभेदबोधकश्रुत्या तद्भेदप्रत्यक्षमपि बाध्यतामित्याशङ्कयाऽऽह—**श्रुतिरपीति**। तात्पर्यवत्येव श्रुतिर्मानान्तराद् बलीयसी। प्रस्तरस्तुत्यर्थवादस्य तु स्तुतौ तात्पर्यम्, न तु स्वार्थे। अतस्तत्र मानान्तरविरोधे

यदि शङ्का हो कि श्रुतिसे प्रत्यक्षका यदि बाध हो, तो 'यजमानः प्रस्तरः' (प्रस्तर—दर्भमुष्टि—यजमान है) इत्यादि प्रस्तरके साथ यजमानका अभेद-बोधन करनेवाली श्रुति यजमान और प्रस्तरके भेदका बोध करनेवाले प्रत्यक्षका भी बाध करेगी; तो इस शङ्काका समाधान करते हैं—'श्रुतिरपि' इत्यादिसे।

श्रुति भी तात्पर्यवती ही बलीयसी मानी जाती है, ऐसा भामतीकार वाचस्पतिमिश्र कहते हैं अर्थात् तात्पर्यवती श्रुति मानान्तरसे बलवती

इस अधिकरणमें अपच्छेदन्याय दर्शाया है। प्रसंग ऐसा है कि ज्योतिष्टोम यागमें हविर्धान-प्रदेशसे बहिष्पवमान स्तोत्रके लिए बहिष्पवमान स्थानको अध्वर्यु आदि जब जाते हैं, तब अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता, ब्रह्मा, यजमान और प्रशास्ता—इन सातोंकी क्रमसे पंक्ति चलती है। उस समय अध्वर्युका काछ प्रस्तोता पकड़ता है, प्रस्तोताका काछ उद्गाता पकड़ता है, यों पूर्व-पूर्वका काछ पीछेवाला पकड़कर चलता है। यदि किसीके हाथसे अपने आगेवालेका काछ छूट जाय, तो इसको अपच्छेद कहते हैं। इसके प्रायश्चित्तके विचारमें—यदि प्रस्तोताके हाथसे अध्वर्युका काछ छूट जाय, तो यह प्रस्तोताका अपच्छेद कहलाता है। उसका प्रायश्चित्त ब्रह्माको वर देना लिखा है। यदि प्रतिहर्ताके हाथसे उद्गाताका काछ छूट जाय, तो यह प्रतिहर्त्ताका अपच्छेद कह-लाता है। उसका प्रायश्चित्त सर्वस्व देना लिखा है। और यदि प्रस्तोताका कच्छ उद्गाताके हाथसे छूट जाय, तो उद्गाताका अपच्छेद होगा, ऐसी स्थितिमें जिस ज्योतिष्टोम यागका आरंभ किया है, उसको दक्षिणारहित पूरा करके फिर ज्योतिष्टोम याग करना चाहिए और उस यागमें पूर्व जो अदक्षिण याग किया है, उसमें देय दक्षिणा देनी चाहिए—इत्यादि लिखा है। जहां पहले प्रतिहर्त्ताका अपच्छेद हुआ और पीछे उद्गाताका अपच्छेद हुआ, वहांपर संशय होता है कि पूर्वोत्पन्ननिमित्तक प्रायश्चित्त करना या उत्तरोत्पन्ननिमित्तक? पूर्वपक्ष ऐसा है कि प्रथमोत्पन्न-निमित्तक ही प्रायश्चित करना चाहिए, क्योंकि यह असञ्जातविरोधी है। उपक्रमन्यायसे सिद्धान्त यह है कि जहां पूर्वनिमित्तज्ञानसे उत्तरज्ञानोत्पत्तिका विरोध नहीं हो सकता, वहां उत्तर ज्ञान स्वविरोधी पूर्व ज्ञानका बाध करता हुआ ही उत्पन्न होता है। अतः उत्तर ज्ञानसे पूर्व जायमान प्रायश्चित्तज्ञान मिथ्या हो जाता है, क्योंकि वह उत्तर ज्ञानसे बाधित है। और उत्तर ज्ञानका तो कोई बाधक नहीं है, अतः पूर्वका दौर्बल्य है और उत्तरका प्राबल्य है। प्रकृतमें प्रथमप्रवृत्त प्रत्यक्ष दोषशङ्काग्रस्त होनेसे अनाप्तप्रणीतत्वेन गृहीतव्याप्तिक उत्तर-वर्ती श्रुति उस प्रत्यक्षकी बाधक होनेके कारण प्रबल है।

२. श्रुतिप्रत्यक्षयोरुपजीव्योपजीवकभावविरोधपरिहारवादः ।

ननु वर्णाद्यवगाहिप्रत्यक्षस्याऽऽगमोपजीव्यत्वात् ।
उपजीव्यविरोधे सति हन्त प्राबल्यमागमस्य कथम् ॥ ९ ॥
शाब्दप्रमितौ वर्णाद्यध्यक्षं तु भ्रमप्रमानुगतम् ।
हेतुर्न तत्त्वरूपं तस्मान्न विरोध इत्याहुः ॥ १० ॥

गौण्यादिकल्पनं युक्तमिति भावः । न तात्पर्येण श्रुतेः प्राबल्यम्, 'कृष्णलं श्रपयेत्' इत्यत्रोष्णीकरणलक्षणानापत्तेः; किन्तु श्रुतित्वादेव प्राबल्यमित्युत्सर्गः । स च मानान्तरस्य विषयान्तरसंभवस्थले चरितार्थः । तदसंभवेऽपोद्यत इति मतान्तरमाह—विवरणेति ॥ ८ ॥

वर्णपदादिगोचरत्वेन तत्प्रत्यक्षस्य श्रुताद्वितीयब्रह्मज्ञानहेतुत्वेनोपजीव्यत्वात्तद्विरोधे सति कथमागमस्य प्राबल्यमिति शङ्कते—नन्विति । अपच्छेदाधिकरणे हि उपजीव्यत्वाभावात् परेण पूर्वस्य बाधो युक्तः, इह तु न तथेति भावः ॥९॥

'वृषमानय' इत्यादिवाक्यं श्रवणदोषाद् 'वृषभमानय' इत्यादिरूपेण शृण्वतोऽपि

है और 'यजमानः प्रस्तरः' यहाँ प्रस्तरस्तुतिरूप अर्थवादका तो स्तुतिमें तात्पर्य है; स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, अतः यहाँ मानान्तरके साथ विरोध होनेसे गौणी आदि कल्पना करना युक्त है, ऐसा भाव है । विवरणकार प्रकाशात्मश्रीचरण और वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य—इन दोनोंका मत है कि तात्पर्यसे श्रुतिका प्राबल्य नहीं है, किन्तु श्रुति होनेसे ही वह स्वयं बलवती है; अन्यथा 'कृष्णलं श्रपयेत्' (सोनेके उरदोंको गरम करे) यहाँ उष्णीकरणमें लक्षणाकी प्राप्ति न होगी, अतः श्रुतित्व ही प्राबल्यका प्रयोजक है, ऐसा उत्सर्ग है । यह उत्सर्ग, जहाँ मानान्तरके विषयान्तरका सम्भव होता है, वहाँ चरितार्थ होता है; और जहाँ मानान्तरका विषयान्तर नहीं होता, उस स्थलमें उसका अनुवाद होता है ॥ ८ ॥

शङ्का करते हैं—'ननु' इत्यादिसे ।

वर्ण, पद, वाक्य आदिको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष तो श्रुत अद्वितीय ब्रह्मज्ञानका हेतु होनेसे उपजीव्य है । यदि इस उपजीव्यके साथ विरोध होगा, तो आगमका प्राबल्य कैसे होगा ? अर्थात् अपच्छेदाधिकरणमें तो उपजीव्य नहीं होनेके कारण परसे पूर्वका बाध युक्त है; किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, ऐसा भाव है ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त शङ्काका समाधान करते हैं—'शाब्द०' इत्यादिसे ।

अन्ये तु योग्यतासिध्यपेक्षणेऽप्यत्र न विरोधः ।
आमुक्त्यसद्विलक्षणसत्त्वोपगमादिति प्राहुः ॥ ११ ॥
तात्त्विकसत्त्वेन जगन्निषिध्यते नेह नानेति ।
तेन पदाद्युपमर्दनशङ्काविरहान्न दोष इत्येके ॥ १२ ॥

शब्दप्रमितिदर्शनेन शाब्दप्रमितौ वर्णपदादेः प्रत्यक्षं भ्रमप्रमासाधारणमेव हेतुः, न तु वर्णपदादिस्वरूपम् । तस्मादद्वैतागमेन वर्णपदादिस्वरूपोपमर्देऽपि नोपजीव्यविरोध इति मतेन समाधत्ते—शाब्देति ॥ १० ॥

यद्यप्ययोग्यवाक्याच्छाब्दप्रमानुदयेन योग्यतास्वरूपसिध्यपेक्षाऽस्ति, तदपेक्षायामपि मुक्तिपर्यन्तं व्यावहारिकासद्विलक्षणस्वार्थक्रियासमर्थत्वाभ्युपगमान्नोपजीव्यविरोध इति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति ॥ ११ ॥

'नेह नानास्ति' इति श्रुत्या पारमार्थिकसत्त्वेनैव प्रपञ्चो निषिध्यते, न तु व्यावहारिकसत्त्वेन । न चाऽप्रसक्तप्रतिषेधः, शुक्तौ रजताभासप्रतीतिरेव सत्यरजतप्रसक्ति-

---

शाब्दप्रमितिमें वर्ण, पद आदिका प्रत्यक्ष हेतु है सही, पर वह हेतु भ्रम और प्रमा दोनोंमें साधारण है, क्योंकि 'वृषमानय' (वृषको ले आओ) इत्यादि वाक्यसे श्रवण करनेवालेको कानके दोषसे 'वृषभमानय' (वृषभको ले आओ) इत्यादिरूप शाब्द प्रमा होती है, ऐसा दीखनेमें आता है। इससे वर्ण, पद आदिका प्रत्यक्ष भ्रम और प्रमा दोनोंमें साधारण हेतु है, वर्ण, पदादिका स्वरूप हेतु नहीं है; यह ज्ञात होता है। अतः अद्वैतागमसे यदि वर्ण, पद आदिका स्वरूपोपमर्द हो, तो भी उपजीव्यविरोध नहीं है ॥ १० ॥

मतान्तर दर्शाते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे।

अन्य यों मानते हैं कि यद्यपि अयोग्य वाक्यसे शाब्द प्रमाका उदय नहीं होता; इसलिये योग्यतास्वरूपकी अपेक्षा रहती है, तथापि उसकी अपेक्षामें भी जबतक मुक्ति न हो तबतक व्यावहारिक असद्विलक्षण और अर्थक्रियामें समर्थ सत्त्वका अभ्युपगम है, अतः उपजीव्यके साथ विरोध नहीं होता है ॥ ११ ॥

इसी विषयमें मतान्तर कहते हैं—'तात्त्विकसत्त्वेन' इत्यादिसे।

'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे पारमार्थिक सत्त्वरूपसे प्रपञ्चका निषेध किया जाता है; व्यावहारिक सत्त्वरूपसे नहीं। यदि कहो कि अप्रसक्तका प्रतिषेध नहीं होगा अर्थात् प्रपञ्चमें पारमार्थिक सत्त्वकी प्रसक्ति न होनेसे उसका प्रतिषेध कैसे होगा? तो उत्तर देते हैं—जैसे शुक्तिमें रजताभासप्रतीतिको ही सत्य रजतकी प्रसक्ति मानकर

केचित्तात्त्विकमेव हि सत्त्वं तस्याऽनुवेधतो जगति ।
सत्त्वाभिमते तस्मिन् सत्त्वनिषेधेऽप्यदोष इति ॥ १३ ॥
इत्थं तात्त्विकसत्ताभिन्नतदाभासकल्पनाभावे ।
सत्यरजतातिरिक्तो रजताभासः प्रकल्प्यते किमिति ॥१४॥

रिति तन्निषेधवत् प्रपञ्चे सत्यत्वाभासप्रतीतिरेव पारमार्थिकसत्यत्वप्रतीतिरिति तन्निषेधोपपत्तेः । अतो व्यावहारिकसत्त्वानिषेधेन वर्णपदयोग्यतादिस्वरूपोपमर्दन-शङ्कानवकाशान्नोपजीव्यविरोध इति मतान्तरमाह—तात्त्विकेति ॥ १२ ॥

ब्रह्मणि पारमार्थिकं सत्यत्वम्, प्रपञ्चे व्यावहारिकम्, शुक्तिरजतादौ च प्रातिभासिकमिति सत्तात्रैविध्यं नोपेयते । अधिष्ठानब्रह्मसत्तानुवेधादेव प्रपञ्चे शुक्ति-रजतादौ च सत्त्वाभिमानोपपत्त्या सत्त्वाभासकल्पनस्य निष्प्रमाणत्वात् । एवं च प्रपञ्चे सत्त्वनिषेधेऽपि नोपजीव्यविरोध इति मतान्तरमाह—केचिदिति ॥१३॥

नन्वेवं ब्रह्मगतपारमार्थिकसत्त्वातिरेकेण प्रपञ्चे सत्त्वाभासानभ्युपगमे व्यव-हितसत्यरजतातिरेकेण रजताभासोत्पत्तिः किमित्युपेयत इति शङ्कते—इत्थमिति ॥ १४ ॥

उसका निषेध होता है, वैसे ही प्रपञ्चमें सत्यत्वाभासकी प्रतीति ही पारमार्थिक सत्यत्वकी प्रतीति है, ऐसा माननेसे उसका निषेध युक्त ही है । अतः व्यावहारिक सत्त्वका निषेध न होनेसे वर्ण, पद, योग्यता आदिके स्वरूपके उपमर्दनकी शङ्काका अवकाश ही न होनेसे उपजीव्यविरोध सर्वथा नहीं है; ऐसा कई एकका मत है ॥ १२ ॥

'केचित्' इत्यादि । कई एकका मत है कि ब्रह्ममें पारमार्थिक सत्त्व है, प्रपञ्चमें व्यावहारिक सत्त्व है और शुक्ति-रजत आदिमें प्रातिभासिक सत्त्व है; यों तीन प्रकारकी सत्ता नहीं माननी चाहिये, क्योंकि अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी सत्ताके अनुवेधसे ही प्रपञ्च और शुक्तिरजत आदिमें सत्त्वाभिमानकी उपपत्ति हो जानेसे सत्त्वाभासकी कल्पना निष्प्रमाण है, अतः प्रपञ्चमें सत्त्वका निषेध होनेपर भी उपजीव्यके साथ विरोध नहीं होता ॥ १३ ॥

'इत्थम्' इत्यादि । इस प्रकार यदि ब्रह्मगत तात्त्विक सत्तासे भिन्न प्रपञ्चमें सत्त्वाभासकी कल्पना नहीं होगी, तो सत्यरजतसे अतिरिक्त रजताभासकी क्यों कल्पना करते हो ? अर्थात् व्यवहित सत्य रजतसे भिन्न रजताभासकी उत्पत्ति क्यों मानते हो ? ॥ १४ ॥

इति चेदसन्निकर्षादपरोक्षानर्हमेव रूप्यमिति ।
अपरोक्षानुभवबलाद्रूप्याभासस्य कल्पना युक्ता ॥ १५ ॥

३. प्रतिबिम्बस्य बिम्बाभेदभेदाभ्यां सत्यत्वमिथ्यात्ववादः

नन्वित्थं प्रतिबिम्बभ्रमस्थले सन्निकर्षवैकल्यात् ।
मुकुरे मुखान्तरं स्याद् ग्रीवास्थितनिजमुखातिरेकेण ॥ १६ ॥
इह न मुखस्याऽध्यासो मुकुराहतदृष्टिसन्निकृष्टत्वात् ।
किन्त्वस्य मुकुरगत्वं भ्रम इति निगदन्ति विवरणानुगताः ॥१७॥

व्यवहितस्याऽसंनिकृष्टस्याऽऽपरोक्ष्यासंभवाच्छुक्तिरजतादौ च तदनुभवात्तन्निर्वा-हाय तदुपगम इति परिहरति—इति चेदिति । अनेनाऽसंनिकृष्टभ्रमस्थलेऽनिर्व-चनीयविषयोत्पत्तिरिति नियमो दर्शितो भवति ॥ १५ ॥

अस्मिन्नियमेऽतिप्रसङ्गमाशङ्कते—नन्विति । संनिकर्षवैकल्यादिति ललाटादि-प्रदेशावच्छेदेन मुखस्य सन्निकर्षाभावादित्यर्थः । बिम्बातिरिक्तप्रतिबिम्बाभ्युपगमे ब्रह्मप्रतिबिम्बस्याऽपि जीवस्य ततो भेदेन मिथ्यात्वापत्त्या मुक्तिभाक्त्वानुपपत्ति-रिति भावः ॥ १६ ॥

भवेदेवं यदि दर्पणे मुखस्याऽध्यासः स्यात्, न त्वेतदस्ति, तस्य दर्पणप्रति-

---

इस शङ्काका समाधान करते हैं—'इति चेत्' इत्यादिसे ।

ऐसी शङ्का हो, तो उत्तर सुनिए, व्यवहित रूप्यके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता और असन्निकृष्ट शुक्तिरजतका अपरोक्ष नहीं हो सकता और यहाँपर अपरोक्ष अनुभव होता है, इस अनुभवसे यहाँ रूप्याभासकी कल्पना युक्त है। इससे असंनिकृष्ट भ्रमस्थलमें अनिर्वचनीय विषयकी उत्पत्ति होती है, ऐसा नियम बतलाया गया ॥१५॥

'नन्वित्थम्' इत्यादि। ऊपर जो नियम दर्शाया गया, इसमें अतिप्रसङ्गकी शंका करते हैं—यदि ऐसा नियम मानोगे, तो प्रतिबिम्बभ्रमस्थलमें संनिकर्षका वैकल्य होनेसे अर्थात् ललाटादिप्रदेशावच्छेदसे मुखका सन्निकर्ष न होनेसे आदर्शमें बिम्बसे अतिरिक्त प्रतिबिम्ब अर्थात् ग्रीवास्थित निजमुखसे अतिरिक्त मुख मानना होगा; इस नियमके अनुसार माननेसे ब्रह्मप्रतिबिम्ब जीवके भी ब्रह्मसे भिन्न होनेपर जीवमें मिथ्यात्वकी आपत्ति आ जायगी इससे जीवको मुक्तिप्राप्तिकी उपपत्ति न होगी, यह भाव है॥ १६ ॥

'इह न' इत्यादि। उक्त आपत्ति तभी आ सकती है, जब दर्पणमें मुखका अध्यास

बिम्बमुखात् पार्श्वस्थैर्भेदेन निरीक्ष्यमाणमादर्शे ।
प्रतिबिम्बितं मुखं तन्मिथ्येत्यद्वैतविद्याकृत् ॥ १८ ॥

ननु कथमयमध्यासस्तद्धेत्वज्ञानसंक्षयादिति चेत् ।
विक्षेपशक्तिमात्रवदज्ञानं तत्र हेतुरित्याहुः ॥ १९ ॥

हतपरावृत्तदृष्टिसंनिकृष्टत्वात् । किन्तु 'ममेदं मुखं दर्पणे भाति नाऽत्र मुखमस्ति' इति दर्पणस्थत्वबाधयोरनुभवादस्य दर्पणस्थत्वमेवाऽध्यस्यत इति मतान्तरमाह—इहेति ।

बिम्बमुखाद् भेदेन तत्सदृशत्वेन च पार्श्वस्थैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणं दर्पणे प्रतिबिम्बितं ततो भिन्नं स्वरूपतो मिथ्यैव, स्वकरगतादिव रजताच्छुक्तिरजतम् । 'दर्पणे मे मुखम्' इति व्यपदेशस्तु स्वच्छायामुखे स्वमुखव्यपदेशवद्गौण इति जीवत्रैविध्यवाद्यभिप्रायमाविष्कुर्वतां मतमाह—बिम्बेति । अस्मिन् पक्षे प्रतिबिम्बजीवस्य मिथ्यात्वेऽपि अवच्छिन्नजीवस्य सत्यत्वात् न पूर्वोक्तमुक्तिभाक्त्वानुपपत्तिरिति भावः ॥ १८ ॥

दर्पणप्रत्यक्षेणोपादानाज्ञाननाशात् कथं प्रतिबिम्बाध्यास इत्याशङ्क्य तत्प्रत्य-

---

होता, पर ऐसा तो है नहीं अर्थात् यहाँ दर्पणमें मुखका अध्यास नहीं है, किन्तु दर्पणसे प्रतिहत होकर परावृत्त हुई दृष्टिसे सन्निकृष्ट होनेके कारण मुखका भान होता है। केवल इस मुखका मुकुरगत्व—दर्पणस्थत्व—भासना भ्रम है; क्योंकि 'यह मेरा मुख दर्पणमें भासता है; यहाँ मुख नहीं है' ऐसा दर्पणस्थत्व और बाध—इन दोनोंके अनुभूत होनेसे केवल दर्पणस्थत्व ही अध्यस्त है; ऐसा विवरणानुयायी कहते हैं ॥ १७ ॥

'बिम्बमुखात्' इत्यादि। पार्श्वस्थ (पास बैठे हुए) पुरुषों द्वारा बिम्बभूत ग्रीवास्थ मुखसे भिन्नरूपसे तथा उसके सदृशरूपसे निरीक्ष्यमाण दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुख, स्वहस्तगत रजतसे भिन्न शुक्तिरजतके समान, उससे भिन्न एवं स्वरूपसे मिथ्या ही है; 'दर्पणमें मेरा मुख है' ऐसा कथन तो अपने छायामुखमें स्वमुखके कथनके समान गौण है, यों जीवकी त्रिविधता माननेवालोंका मत है। इस मतमें प्रतिबिम्बजीवका तो मिथ्यात्व है, किन्तु अवच्छिन्न जीव सत्य है, अतः मुक्तिकी अनुपपत्ति नहीं होती ॥ १८ ॥

'ननु' इत्यादि । दर्पणका प्रत्यक्ष होनेसे उपादानभूत अज्ञानका नाश हो जानेपर यह प्रतिबिम्बाध्यास कैसे होगा ? यों शङ्का करके उसका परिहार करते हैं । यद्यपि

मूलाज्ञानं हेतुर्बिम्बासंनिहितमुकुरधीर्बाधः ।
विम्बादिदोषजत्वात् प्रातीतिकता च घटत इत्येके ॥ २० ॥

क्षेण तदज्ञानस्याऽऽवरणांशनाशेऽपि बिम्बसन्निधानादिप्रतिबन्धाद्विक्षेपांशेन नाशाभावात् तादृशमेवाऽज्ञानं प्रतिबिम्बोपादानमिति परिहरति—**नन्विति** ॥ १९ ॥

न तावद् विक्षेपशक्तिमदवस्थाज्ञानं प्रतिबिम्बोपादानम्। यत्र पूर्वमेव दर्पणप्रत्यक्षं पश्चात् बिम्बसंनिधौ तत्र प्रतिबन्धकाभावाद्विक्षेपांशस्य नाशे प्रतिबिम्बानुदयप्रसङ्गात्। किन्तु विक्षेपशक्तिमन्मूलाज्ञानमेव तदुपादानम्। न च तत्राऽपि तुल्यो दोषः, पराग्विषयवृत्तीनां स्वस्वविषयावच्छिन्नचैतन्यप्रदेशे मूलाज्ञानावरणशक्त्यंशाभिभावकत्वेऽपि तदीयविक्षेपानिवर्तकत्वस्य व्यावहारिकघटादिविक्षेपानिवृत्त्या क्लृप्तत्वादिति मतान्तरमाह—**मूलेति**। ननु तर्हि बिम्बापसरणेऽपि यावद् ब्रह्मज्ञानोदयं प्रतिबिम्बानुवृत्तिः स्यात, उपादानाज्ञानसत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—**विम्बासंनिहितमुकुर-**

दर्पणके प्रत्यक्षसे अधिष्ठानके अज्ञानके आवरणांशका नाश होनेपर भी बिम्बसन्निधान आदि प्रतिबन्धकोंके कारण उसके विक्षेपांशका नाश नहीं होता; अतः विक्षेपशक्तिसे युक्त अज्ञानके प्रतिबिम्बोपादान होनेसे ही अध्यास उपपन्न है ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त समाधानमें अनुपपत्ति बतलाकर अन्य समाधान कहते हैं—'मूलाज्ञानम्' इत्यादिसे ।

विक्षेपशक्तिवाला अवस्थाज्ञान प्रतिबिम्बका उपादान हो नहीं सकता, क्योंकि जहाँ पहले ही दर्पणका प्रत्यक्ष हुआ पीछे बिम्बकी सन्निधि हुई वहाँ प्रतिबन्धकके न होनेसे विक्षेपांशका नाश हो जानेपर प्रतिविम्बका उदय नहीं होगा; किन्तु विक्षेपशक्तिवाला मूलाज्ञान ही प्रतिबिम्बका उपादान होता है। यदि यों कहे कि इस पक्षमें भी तो दोष तुल्य है; तो उसपर कहते हैं—पराग्विषयक जो वृत्तियाँ हैं, उनमें अपने-अपने विषयावच्छिन्न चैतन्यप्रदेशमें मूलाज्ञानके आवरणशक्त्यंशका अभिभावकत्व होनेपर भी व्यावहारिक घटादि विक्षेपकी निवृत्ति न होनेसे उन वृत्तियोंमें मूलाज्ञानके विक्षेपांशके अनिवर्त्तकत्वकी कल्पना की जाती है, अतः प्रतिबिम्बाध्यासमें मूलाज्ञान ही हेतु है। यहाँ शंका होती है कि यदि मूलाज्ञानको हेतु मानोगे, तो मूलाज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानके बिना होती नहीं, इसलिए बिम्बको हटा लेनेपर भी जबतक ब्रह्मज्ञानका उदय नहीं होगा तबतक प्रतिबिम्बकी अनुवृत्ति रहेगी; निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि उपादानभूत अज्ञान है ही। इस शङ्काका समाधान करते हैं—बिम्बके असंनिधानसे सहकृत

४. स्वप्नाधिष्ठानवादः

केचित् स्वप्नोऽप्येवं मूलाज्ञानैकहेतुको भवति ।
निद्राजन्यतया प्रतिभामात्रो ब्रह्मबोधबाध्य इति ॥ २१ ॥

धीर्बाध इति । बिम्बासंनिधिसहकृतमुकुरप्रत्यक्षं मूलाज्ञानानिवर्तकमपि स्वविरुद्ध-तत्कार्यविक्षेपनिवर्तकमेवेत्यर्थः । तथा च ब्रह्मज्ञानस्य निवर्तकत्वपक्षेऽपि तादृङ्मुकुर-प्रत्यक्षं मुद्गरप्रहारो घटस्येव प्रतिबिम्बस्य तिरोधायकमेवेत्युभयथा न प्रतिबिम्बानु-वृत्तिरिति भावः । ननु तर्हि तस्य व्यावहारिकत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—बिम्बादिति ।

बिम्बसंनिधानस्वच्छत्वादिदोषजन्यत्वात् प्रातिभासिकमित्यर्थः । तथा च अविद्यातिरिक्तदोषाजन्यत्वमेव व्यावहारिकत्वप्रयोजकमिति भावः ॥ २० ॥

एवं स्वप्नोऽप्यवस्थाशून्येऽहंकारोपहिते शुद्धे वा चैतन्येऽध्यासात् मूलाज्ञानो-पादानक एव, आगन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात् प्रातिभासिकः ब्रह्मज्ञानबाध्यश्चेति मतान्तरमाह—केचिदिति । ब्रह्मज्ञानैकबाध्यत्वेऽपि स्वप्नस्य प्रबोधे सति तिरोधानान्न जाग्रद्दशायामनुवृत्तिरिति भावः ॥ २१ ॥

मुकुरका प्रत्यक्ष यद्यपि मूलाज्ञानका निवर्त्तक तो नहीं होगा, तथापि स्वविरुद्ध जो मूलाज्ञानका विक्षेपरूप कार्य है उसका निवर्त्तक होगा ही। इसलिए ब्रह्मज्ञान मूला-ज्ञानका निवर्त्तक है, इस पक्षमें भी उक्त (बिम्बासन्निधिसहकृत) मुकुरका (दर्पणका) प्रत्यक्ष, जैसे मुद्गरप्रहार घटका तिरोधायक होता है, वैसे ही प्रतिबिम्बका तिरो-धायक होता है, यों दोनों प्रकारोंसे प्रतिबिम्बानुवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि ऐसी दशामें प्रतिबिम्बमें व्यावहारिकत्वकी आपत्ति होगी ? तो उसपर कहते हैं— इस प्रतिबिम्बमें बिम्बसंनिधान और स्वच्छत्वादि दोषजन्यत्व होनेसे प्राती-तिकता (प्रातिभासिकता) ही है अर्थात् अविद्यातिरिक्त दोषसे अजन्यत्व ही व्यावहारिकताका प्रयोजक है, यह भाव है ॥ २० ॥

'केचित् स्वप्नो०' इत्यादि। इसी रीतिसे स्वप्न भी अवस्थाशून्य अह-ङ्कारोपहित अथवा शुद्ध चैतन्यमें अध्यस्त है, अतः उसका उपादान मूलाज्ञान ही है, एवं आगन्तुक निद्रा आदि दोषसे जन्य होनेके कारण प्रातिभासिक है, इसलिए ब्रह्मबोधसे बाध्य है; ऐसा कई एक मानते हैं। यद्यपि यह स्वप्न केवल ब्रह्मज्ञानसे ही बाध्य है, तथापि प्रबोध होनेपर तिरोहित हो जानेके कारण उसकी जाग्रद्-दशामें अनुवृत्ति नहीं होती ॥ २१ ॥

स्वप्नाध्यासस्य परे प्राहुर्जाग्रत्प्रबोधतो बाधम् ।
ब्रह्मज्ञानेतरधीबाध्यतया प्रातिभासिकत्वं च ॥ २२ ॥

केचिदविद्यावस्थालक्षणनिद्रानिदानकः स्वप्नः ।
सांव्यवहारिकजीवज्ञानाद्विनिवर्त्यं　इत्याहुः ॥ २३ ॥

'बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे' इति भाष्योक्तेर्जागरिते स्वप्न-मिथ्यात्वानुभवाच्च स्वप्नाध्यासस्य जाग्रत्प्रबोधादेव बाधः । ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानबाध्यतया प्रातिभासिकत्वं चेति मतान्तरमाह—**स्वप्नेति** । उपादानाज्ञाने सत्यपि भ्रमरूपेणाऽपि जाग्रत्प्रबोधेन स्वप्नभ्रमस्य रज्जौ दण्डभ्रमेण सर्पभ्रमस्येव बाधो युक्त इति भावः ॥ २२ ॥

जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे व्यावहारिकजगज्जीवावावृण्वन्ती मूलाज्ञानावस्थाभेद-रूपा निद्रैव स्वाप्नप्रपञ्चस्योपादानम्, न मूलाज्ञानम् । पुनश्च जाग्रद्भोगप्रदकर्मोद्बोधे व्यावहारिकजीवस्वरूपज्ञानात् स्वोपादाननिद्रारूपाज्ञाननिवृत्त्या तस्य निवृत्तिरिति मतान्तरमाह—**केचिदिति** ॥ २३ ॥

'स्वप्नाध्यासस्य' इत्यादि । 'बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे' (स्वप्नमें देखे गये ये रथादि प्रबोध होते ही बाधित हो जाते हैं) ऐसा भाष्यकारका वचन होनेसे तथा जागरणमें स्वप्नका मिथ्यात्व अनुभूत होनेसे स्वप्नाध्यासका जाग्रत्-प्रबोधसे ही बाध होता है और ब्रह्मज्ञानसे इतर बुद्धिसे बाध्य होनेके कारण स्वप्नमें प्रातिभासिकत्व है ऐसा मतान्तरवाले कहते हैं । यहाँ उपादानभूत अज्ञान तो है ही, तथापि रज्जुमें सर्पभ्रमके बाद जायमान दण्डभ्रमसे सर्पभ्रमका जैसे बाध होता है, वैसे ही भ्रमरूप जाग्रत्प्रबोधसे भी स्वप्नभ्रमका बाध मानना युक्त है, ऐसा आशय है ॥ २२ ॥

'केचिद०' इत्यादि । जाग्रद्बोधके हेतुभूत कर्मोंका उपराम हो जानेपर व्यावहारिक जाग्रत् और जीव—इन दोनोंका आवरण करती हुई मूलाज्ञानकी अवस्थाविशेष निद्रा ही स्वप्नप्रपञ्चकी उपादान है, मूलाज्ञान नहीं । फिर जाग्रद्-भोगप्रद कर्मोंका जब उद्बोध होता है; तब व्यावहारिक जीवस्वरूपका ज्ञान होनेसे स्वप्नोपादानभूत निद्रारूप अज्ञानकी निवृत्ति होनेके कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है, ऐसा कई एकका मन्तव्य है ॥ २३ ॥

निद्रादोषयुतायामन्तर्वृत्तावभिव्यक्ते ।
शुद्धे चैतन्ये स्यात् स्वप्नाध्यास इति मन्वते केचित् ॥ २४ ॥
केचित्तस्मिन्नेवाऽविद्याप्रतिबिम्बचैतन्ये ।
स्वयमपरोक्षतयाऽस्य तु तद्भासार्थं न वृत्त्यपेक्षेति ॥ २५ ॥
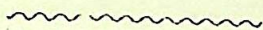
अहङ्कारोपहिते शुद्धे वा प्रागुक्तस्वप्नाध्यासो न युक्तः । आद्ये 'अहं गजः' गजवान्वा' इति भानापत्तेः । द्वितीये प्रमातृसंबन्धाय चक्षुरादिवृत्त्यपेक्षोपपत्तेरित्याशङ्क्य अन्तःकरणस्य बहिरस्वातन्त्र्येऽपि देहान्तःस्वातन्त्र्यात् तदन्तःकरणवृत्तौ निद्रादोषोपेतायामभिव्यक्ते शुद्धचैतन्ये तदाश्रिताविद्यापरिणामरूपः स्वप्नाध्यास इति विवरणोपन्यासकृन्मतेन द्वितीयपक्षे दोषमुद्धरति—निद्रेति । साक्षात् प्रमातृसंबन्धेन तद्भानोपपत्तेस्तदर्थं न चक्षुरादिवृत्त्यपेक्षेति भावः ॥ २४ ॥

अविद्याप्रतिबिम्बे पूर्वोक्तशुद्धचैतन्य एव स्वप्नाध्यासः । अस्य शुद्धचैतन्यस्य स्वत एवाऽऽपरोक्ष्याद्ध्यासावभासकत्वोपपत्तेस्तदर्थं न चक्षुरादिवृत्त्यपेक्षेति द्वितीयपक्ष एव मतान्तरेण दोषमुद्धरति—केचिदिति । प्रमात्वस्वप्नदृष्टत्वानुभवस्तु तदधिष्ठानशुद्धचैतन्यगोचरतत्समनियतान्तःकरणवृत्तिकृताभेदाभिव्यक्तेरिति भावः ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त स्वप्नाध्यास अहङ्कारोपहित चैतन्यमें या शुद्ध चैतन्यमें युक्त नहीं है, क्योंकि अहङ्कारोपहित चैतन्यमें माननेपर स्वप्नदृष्ट गजमें 'यह गज है' ऐसा भान न होगा; किन्तु 'मैं गज हूँ' ऐसा भान होगा। यदि शुद्ध चैतन्यमें माने, तो प्रमातृसम्बन्धके लिए वृत्तिकी अपेक्षा होगी, इन दोनों मतोंमें जो अनुपपत्ति आती है, उसका विवरणोपन्यासकारके मतसे द्वितीयपक्षोक्त-दोषोद्धारपूर्वक परिहार दर्शाते हैं—'निद्रादोष०' इत्यादिसे ।

अन्तःकरणका यद्यपि बाहरके विषयमें स्वातन्त्र्य नहीं है, तथापि देहके भीतर उसका स्वातन्त्र्य होनेसे निद्रादोषसे युक्त अन्तःकरणवृत्तिमें अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्याश्रित जो अविद्या है, उसी अविद्याका स्वप्नाध्यास परिणाम होता है; ऐसा विवरणोपन्यासकार आदि मानते हैं। इस मतमें साक्षात् प्रमातृसम्बन्धसे भान होनेपर उसके लिए चक्षुरादि वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रहती ॥ २४ ॥

'केचित्' इत्यादि । अविद्याप्रतिबिम्बरूप पूर्वोक्त शुद्ध चैतन्यमें ही स्वप्नाध्यास होता है और उस शुद्ध चैतन्यमें स्वतः ही अपरोक्षत्व होनेसे वह अध्यासका अवभासक बन सकता है; अतः उसके लिए चक्षुरादिवृत्तिकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कई एकका

केचिदहंकृत्युपहिततत्प्रतिबिम्बे तदध्यासः ।
नाऽहंकारविशिष्टे येन स्यादहमिति प्रतीतिरिति ॥ २६ ॥
शुक्तीदंचैतन्यप्रतिबिम्बे वृत्तिमन्मनोनिष्ठे ।
अध्यासो रजतादेरत एवाऽनन्यवेद्यतेत्याहुः ॥ २७ ॥

नाऽहंकारविशिष्टे स्वप्नाध्यासः । येन गजोऽहमित्यादिप्रत्ययः प्रसज्येत । किन्तु अहंकारोपहिते तत्प्रतिबिम्बचैतन्य इत्याद्यपक्षेऽपि दोषमुद्धरति— केचिदिति । विशेषणवदुपाधेः कार्यान्वयाभावादिति भावः ॥ २६ ॥

एवं स्वप्नाध्यासस्य मतभेदेनाऽधिष्ठानमुक्त्वा रजताध्यासस्याऽपि तदाह— शुक्तीति । शुक्तीदंचैतन्यं शुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्यम्, तस्य प्रतिबिम्ब इत्यर्थः । अत एव प्रतिबिम्बाध्यासादेवेत्यर्थः । बिम्बेऽध्यासे तु शुक्त्यादिवदन्यवेद्यता स्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

मत है । यहाँ प्रमात्व और स्वप्नद्रष्टृत्वका अनुभव तो अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्यको विषय करनेवाली तत्समनियत अन्तःकरणवृत्तिसे सम्पादित अभेदाव्यक्तिसे होता है ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त २४ वें श्लोकमें अहङ्कारोपहित चैतन्यमें यदि स्वप्नाध्यास मानें, तो स्वप्नदृष्ट गजमें 'यह गज है' ऐसा भान न होगा, किन्तु 'मैं गज हूँ' ऐसी भानापत्ति होगी, ऐसी जो शङ्का की थी, उस शंकाका परिहार कर मतान्तर दर्शाते हैं— 'केचिदहम्०' इत्यादिसे ।

कई एकका मत है कि अहङ्कारोपहित चैतन्यमें स्वप्नाध्यास होता है; अहङ्कार-विशिष्टमें नहीं, जिससे स्वप्नदृष्ट गजमें 'मैं गज हूँ' ऐसी प्रतीतिकी आपत्ति होगी, क्योंकि विशेषणकी नाँई उपाधिका कार्यान्वय नहीं होता, अतः 'यह गज है' ऐसा भान होगा ॥ २६ ॥

यों मतभेदसे स्वप्नाध्यासके अधिष्ठानका निरूपण करके अब रजताध्यासमें भी अधिष्ठानविषयक मतभेद दर्शाते हैं—

'शुक्तीदम्' इत्यादिसे । शुक्तिका इदमंशावच्छिन्न जो चैतन्य है, उसका वृत्तिवाले मनमें जो प्रतिबिम्ब होता है उसमें रजताध्यास होता है । अतः इस अध्यासके प्रतिबिम्बमें होनेसे बिम्बाध्यासपक्षमें शुक्त्यादिकी नाईं अन्यवेद्यता नहीं होती, किन्तु अनन्यवेद्यता होती है, ऐसा कई एक कहते हैं ॥ २७ ॥

इदमंशावच्छिन्ने बिम्बेऽप्यध्यासमभ्युपेत्य परे ।
तत्तदविद्याश्रयपुंग्राह्यत्वान्नाऽन्यवेद्यतेत्याहुः ॥ २८ ॥

५. स्वप्नपदार्थानुभववादः

नन्वस्तु शुक्तिरूप्ये चाक्षुषताप्रत्ययः कथंचिदपि ।
स्वप्नगजादिष्वेषोऽनुभवः कथमाविरस्त्विति चेत् ॥ २९ ॥
अत्राऽऽहुस्तदवसरे चक्षुःप्रमुखेन्द्रियोपरमात् ।
स्वाप्नेषु चाक्षुषत्वानुभवो भ्रम एव भवतीति ॥ ३० ॥

मतान्तरमाह—इदमंशेति । नन्वेवं तर्हि पुरुषान्तरवेद्यता स्यात् इत्याशङ्कयाऽऽह—तत्तदिति ॥ २८ ॥

ननु शुक्तिरजते चाक्षुषत्वानुभवः साक्षाद्वा अधिष्ठानद्वारा वा कथंचित्समर्थ्यताम् । स्वाप्नगजादिषु तथाऽनुभवः कथं समर्थनीय इति शङ्कते—नन्विति ॥ २९ ॥

स्वप्नावस्थायां चक्षुरादीन्द्रियोपरमात् स्वयंज्योतिष्ट्ववादेन स्वाप्नेन्द्रियकल्पनाया असंप्रतिपत्तेश्च दोषसंस्कारानुरोधेन चाक्षुषत्वानुभवो भ्रम इति मतेन परिहरति—अत्रेति ॥ ३० ॥

बिम्बाध्यासपक्षमें भी अन्यवेद्यता नहीं है, ऐसा मतान्तर कहते हैं—'इदमंशा०' इत्यादिसे ।

अन्य-मतवाले—इदमंशावच्छिन्न बिम्बचैतन्यमें ही अध्यासका अङ्गीकार करके तत्-तत् अविद्याके आश्रयभूत पुरुषों द्वारा ग्राह्य होनेसे उसमें अन्यवेद्यताकी (पुरुषान्तर-वेद्यताकी) आपत्ति नहीं आती—यों रजताध्यासका निरूपण करते हैं ॥ २८ ॥

'नन्वस्तु' इत्यादि । शङ्का करते हैं कि शुक्तिरूप्यमें चाक्षुषत्वानुभवका किसी प्रकार साक्षात् वा अधिष्ठान द्वारा समर्थन करते हो, तो भले ही करो, परन्तु स्वप्नदृष्ट गजादिके विषयमें चाक्षुषत्वानुभवका किस युक्तिसे समर्थन करते हो ? इस शंकाका समाधान उत्तर श्लोकमें करते हैं ॥ २९ ॥

'अत्राऽऽहुः' इत्यादि । इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्नावस्थामें चक्षु आदि इन्द्रियोंका उपराम हो जानेसे और स्वयंज्योतिष्ट्ववादकी प्रतिपादक 'अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (इस अवस्थामें पुरुष स्वयंज्योति है) इत्यादि श्रुतियोंसे स्वाप्न इन्द्रियोंकी कल्पनामें कोई संप्रतिपत्ति नहीं पाई जाती, अतः

दृष्टिसमकालसृष्टौ दृष्टः प्रागर्थमात्रविरहेण ।
स्याज्जाग्रदर्थबोधेऽप्यैन्द्रियकत्वोपलम्भनं भ्रान्तिः ॥ ३१ ॥

६. दृष्टिसृष्टिकल्पकवादः

इह दृष्टिसृष्टिवादे साविद्यस्य प्रपञ्चजातस्य ।
पूर्वाविद्यासचिवः कल्पक आत्मेति मेनिरे केचित् ॥ ३२ ॥

दृष्टिसृष्टिवादे दृष्टिसमकाला सृष्टिरिति पक्षे दृष्टेः पूर्वं घटे घटार्थमात्राभावेन तत्सन्निकर्षाभावात् स्वप्नवज्जाग्रद्वच्च जाग्रद्घटाद्यनुभवे चाक्षुषत्वानुभवो भ्रम इति केषांचिन्मतमाह—दृष्टीति ॥ ३१ ॥

नन्वस्मिन् दृष्टिसृष्टिवादे कृत्स्नस्य जगतः कल्पको निरुपाधिकः सोपाधिको वा आत्मा ? प्रथमे मुक्तस्याऽपि तत्कल्पकत्वापत्तिः । द्वितीये, उपाध्यसिद्धिरित्याशङ्क्य पूर्वपूर्वाविद्योपहित एवोत्तरोत्तरसाविद्यसर्वप्रपञ्चस्य कल्पक इति केषांचिन्मतमाह—इहेति । अविद्याया अनादित्ववादस्तु स्वाप्नाकाशादेरिवाऽनादित्वेनैव कल्पनादिति भावः ॥ ३२ ॥

दोषसंस्कारके अनुरोधसे स्वप्नमें जो चाक्षुषत्वानुभव होता है, वह भ्रम है, ऐसा फलित होता है ॥ ३० ॥

इसी विषयमें और भी मत दर्शाते हैं—'**दृष्टिसम०**' इत्यादिसे ।

दृष्टि-सृष्टिवादमें दृष्टिसमकाल (जब दृष्टि हो तभी) सृष्टि मानी जाती है, इस पक्षमें दृष्टिसे पूर्व घटमें घटार्थमात्रका अभाव होनेसे घटका सन्निकर्ष ही नहीं होता; अतः स्वप्नके समान जाग्रत्में भी घटादिके अनुभवमें चाक्षुषत्वका जो अनुभव होता है, वह भी भ्रम है; ऐसा दृष्टिसृष्टिवादियोंका मत है ॥ ३१ ॥

'इह दृष्टि०' इत्यादि । इस दृष्टिसृष्टिवादमें समग्र जगत्का कल्पक निरुपाधिक आत्माको मानते हो ? अथवा सोपाधिक आत्माको ? यदि निरुपाधिकको कल्पक मानोगे, तो मुक्त जीवोंमें भी कल्पकत्वकी आपत्ति होगी । यदि सोपाधिकको कल्पक मानोगे; तो उपाधिकी असिद्धि होगी, ऐसी आशंका करके समाधान करते हैं कि पूर्व-पूर्व अविद्यासे उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर साविद्य होकर सब प्रपञ्चका कल्पक होता है, ऐसा कई एकका मत है । अविद्याका अनादित्ववाद तो स्वाप्नाकाशकी नाईं अनादित्वसे ही माना जाता है ॥ ३२ ॥

केचिदनादित्वेनाऽविद्यादेर्नैष कल्पकस्तस्य ।
किन्त्वेतद्व्यतिरिक्तप्रपञ्चमात्रस्य तावदिति ॥ ३३ ॥
केचित्तु दृष्टिरेव प्रपञ्चसृष्टिस्ततो नाऽन्या ।
दृश्यस्य दृष्टिभेदे मानाभावादिति प्राहुः ॥ ३४ ॥
सृष्टस्य दृष्टिवादे जगतोऽस्मद्भ्रान्त्यकल्पितत्वेऽपि ।
सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वमिहोपपन्नमित्यन्ये ॥ ३५ ॥

अस्मिन्नेव वादे वस्तुतोऽविद्यादेरनादित्वेन तदन्यत्राऽऽत्मा कल्पक इति मतान्तरमाह—**केचिदिति** । एषः पूर्वोक्त आत्मेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

दृष्टिसृष्टिवादे सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तं विरोधान्तरमाह—**केचिदिति** । प्रस्तुतप्रपञ्चस्य दृष्ट्यभेदे 'ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्विलक्षणम्' इत्यादि विष्णुपुराणवचनं प्रमाणमस्तीति भावः ॥ ३४ ॥

ईश्वरसृष्टस्य जगतो दृष्टिरिति पक्षेऽध्यासकारणदोषसंस्काराभावेनाऽस्मदादिभ्रान्त्यकल्पितत्वेऽपि सदसद्विलक्षणत्वेन श्रुतिप्रमाणकमिथ्यात्वं संभवतीति पूर्वोक्तमतद्वये मनःप्रत्ययमलभमानानां केषांचिन्मतमाह—**सृष्टस्येति** ॥ ३५ ॥

'केचिदना०' इत्यादि । इस दृष्टिसृष्टिवादमें वस्तुतः अविद्यादि अनादि ही हैं; अतः उनसे अतिरिक्त सब प्रपञ्चका यह आत्मा ही कल्पक है । अविद्याके वास्तव अनादित्वको सिद्धवत् मानकर पूर्वोक्त उपाध्यसिद्धिका परिहार किया ॥ ३३ ॥

दृष्टि-सृष्टिवादमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें कथित अन्य विरोध बतलाते हैं—**'केचित्तु'** इत्यादिसे ।

कई एक तो दृष्टि ही प्रपञ्चकी सृष्टि है; इससे अन्य सृष्टि नहीं है और दृश्यका दृष्टिसे भेद माननेमें कोई प्रमाण नहीं है; प्रत्युत दृष्टिसे दृश्यके अभेदके बोधक 'ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विलक्षणम्' (यह जगत् ज्ञानस्वरूप ही है) इत्यादि अनेक विष्णुपुराणादिके वचन प्रमाण हैं, ऐसा कहते हैं ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त दो मतोंमें जिसको विश्वास नहीं होता, उसका मत कहते हैं—**'सृष्टस्य'** इत्यादिसे ।

ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत्की दृष्टि (प्रतीति) होती है, इस पक्षमें अध्यासके कारणीभूत दोष, संस्कार आदि नहीं हैं, अतः प्रपञ्च यद्यपि हम लोगोंकी भ्रान्तिसे कल्पित नहीं है, तथापि सदसद्विलक्षण होनेसे उसका मिथ्यात्व तो श्रुतिरूप प्रमाणसे सर्वथा हो सकता है ॥ ३५ ॥

७. मिथ्याभूतस्याऽपि व्यावहारिकसत्यार्थक्रियाकारित्ववादः

मिथ्यात्वं यदि जगतस्तत्कथमर्थक्रियासमर्थत्वम् ।
अत्र स्वप्नवदर्थक्रियां वदन्ति स्वतुल्यसत्ताकाम् ॥ ३६ ॥
अन्ये तु स्वप्नोदितसाध्वसकम्पस्य जाग्रदनुवृत्त्या ।
नैवाऽर्थतत्क्रियाणां समसत्ताकत्वनियम इत्याहुः ॥ ३७ ॥
सालोकेऽप्यपवरके प्रविशत्पुरुषेण कल्पितं ध्वान्तम् ।
अर्थक्रियासमर्थं दृष्टमितीत्थं निदर्शयन्त्यपरे ॥ ३८ ॥

दृष्टिसृष्टिवादे सृष्टिदृष्टिवादे च मिथ्यात्वसंप्रतिपत्तेः कथं मिथ्याभूतस्याऽर्थक्रियाकारित्वमित्याशङ्क्य स्वप्नसमानसत्ताकार्थक्रियाकारित्वं संभवतीति केषांचिन्मतेन परिहरति—मिथ्यात्वमिति ॥ ३६ ॥

स्वप्नभुजङ्गव्याघ्रादिजनितभयकम्पादेर्जाग्रद्दशायामप्यनुवृत्तिदर्शनादर्थानां तत्क्रियाणां च समानसत्ताकत्वनियमो नाऽस्तीति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति ॥ ३७ ॥

अत्राऽन्तर्गृहे तत्रत्यपुरुषान्तरीयघटादिदर्शनसमर्थप्रकाशवत्यकस्मात् प्रविशता

'मिथ्यात्वम्' इत्यादि । दृष्टिसृष्टिवादमें तथा सृष्टिदृष्टिवादमें प्रपञ्चका मिथ्यात्व तो सम्मत है, पर उसमें शङ्का यह होती है कि मिथ्याभूत पदार्थ अर्थक्रियाकारी कैसे हो सकते हैं ? ऐसी आशङ्का करके उत्तर कहते हैं कि जैसे स्वप्नके प्रातिभासिक सत्तावाले पदार्थ प्रातिभासिक अर्थक्रियाकारी होते हैं, वैसे ही जाग्रत्के व्यावहारिक सत्तावाले पदार्थ स्वतुल्यसत्ताक (व्यावहारिक सत्तावाले) अर्थक्रियाकारी होते हैं ॥ ३६ ॥

स्वसमानसत्ताक अर्थक्रियाकारित्वके विषयमें मतभेद दर्शाते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

अन्य तो यों कहते हैं कि स्वप्नमें भुजङ्ग और व्याघ्र आदिका दर्शन होनेपर जो भय, कम्प आदि होते हैं, उनकी (भय, कम्प आदिकी) अनुवृत्ति जाग्रद्दशा होनेपर भी दीखनेमें आती है, अतः अर्थ और अर्थक्रिया दोनोंमें समसत्ता ही हो, ऐसा नियम नहीं है ॥ ३७ ॥

'सालोके०' इत्यादि । घरके अंदर स्थित पुरुषके घटादिके दर्शनमें समर्थ प्रकाशके विद्यमान रहनेपर भी उस घरमें बाहरसे अकस्मात् प्रवेश करनेवाले किसी पुरुषके

अन्ये तु नाऽर्थसत्तामपेक्षते तत्क्रिया किन्तु ।
सत्यं वाऽसत्यं वा तत् तत्स्वरूपमात्रमिति प्राहुः ॥ ३९ ॥
मरुपयसि जात्यभावात् पानाद्यर्थक्रिया तु नेत्येके ।
अस्त्येव जातिरर्थक्रियाऽपि काचिन्न चाऽखिलेत्यन्ये ॥ ४० ॥

पुरुषेणाऽध्यस्तं तमः तं प्रति घटाद्यावरणाद्यर्थक्रियासमर्थं दृष्टमिति निदर्शनपूर्वकं पूर्वोक्तमेव मतमनुसरतां मतमाह—सालोक इति ॥ ३८ ॥

अर्थक्रियाप्रयोजकत्वं न सत्यत्वम् , अर्थक्रियानुत्पत्तिदशायां घटादेरसत्यत्वप्राप्तेः । किन्तु सत्यं वाऽसत्यं वा तत्तद्व्यक्तिमात्रमिति मिथ्यात्वेऽप्यर्थक्रियाकारित्वसम्भवादिति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति ॥ ३९ ॥

नन्वेवं सति मरुमरीचिकोदकेनाऽपि पानाद्यर्थक्रियाप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तत्र तोयत्वजात्यभावान्नैवमिति तत्त्वशुद्धिकारादिमतेनोत्तरमाह—मरुपयसीति । अत्र तोयत्वभानं तु संस्कारबलेनेति भावः । अन्यथाख्यात्यनभ्युपगमात्तोयत्वजातीयत्वानुसंधानं विना तोयार्थिनस्तत्प्रवृत्त्ययोगाच्च तोयत्वजातिरस्त्येव । तल्लिप्सया धाव-

---

द्वारा कल्पित (अध्यस्त) अन्धकार उस कल्पक पुरुषके प्रति घटावरणादि अर्थक्रियामें समर्थ दीखता है, यों दृष्टान्तपूर्वक अपरमतवाले उपर्युक्त शङ्काका समाधान करते हैं ॥ ३८ ॥

'अन्ये तु' इत्यादि । अर्थक्रियाके प्रति वस्तुका सत्यत्व प्रयोजक नहीं है; अर्थात् अर्थक्रियामें वस्तुकी सत्यता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अर्थक्रियाकी अनुत्पत्तिदशामें वस्तुमें असत्यत्वकी प्राप्ति होगी । किन्तु सत्य हो या असत्य, केवल तत्तद्व्यक्तिमात्रके स्वरूपको ही अर्थक्रियाका प्रयोजक मानना चाहिये, अतः वस्तुके मिथ्या होनेपर भी अर्थक्रियाकारित्वका संभव है; ऐसा अन्य कहते हैं ॥ ३९ ॥

जब अर्थक्रियाके प्रति वस्तुसत्ताको प्रयोजक नहीं मानेंगे तो मरुमरीचिकाके जलसे भी पानादि-क्रियाका प्रसङ्ग आ पड़ेगा; ऐसी शङ्का करके तत्त्वशुद्धिकारके मतसे समाधान करते हैं—'मरुपयसि' इत्यादिसे ।

कई एकका कहना है कि मरुजलमें जलत्व जातिके न होनेसे पानादि अर्थक्रिया नहीं होती । उसमें जो जलत्वका भान होता है, वह संस्कारके बलसे होता है । अन्य मतवाले कहते हैं कि जब अन्यथाख्याति मानते नहीं हैं, तब जलत्वजातीयताका अनुसन्धान हुए बिना जलार्थीकी उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः यहाँ भी जलत्वजाति है ही । और उस जल पानेकी इच्छासे धावनादि (दौड़ना

८. मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेऽपि न प्रपञ्चमिथ्यात्वहानिरितिवादः

मिथ्यात्वं यदि मिथ्या जगतः सत्यत्वमापतेत्तर्हि ।
सत्यं चेदद्वैतक्षतिरत्राऽद्वैतदीपिकाकाराः ॥ ४१ ॥
स्वाश्रयसमसत्ताको धर्मः स्वविरुद्धधर्महरः ।
इति नियमान्मिथ्यात्वं सत्यत्वनिवृत्तिहेतुरित्याहुः ॥ ४२ ॥

नादिजननादर्थक्रिया च काचिदस्त्येव । तथापि क्वचिद्दोषसामान्यज्ञानाध्यासहेतूच्छेदोपरमात् क्वचिद्विशेषदर्शनादधिष्ठानज्ञानेन बाधान्न सर्वार्थक्रियेति मतान्तरमाह—अस्त्येवेति ॥ ४० ॥

तदेवं मिथ्यात्वेऽपि अर्थक्रियासिद्ध्यविरोधाज्जगतो मिथ्यात्वं सिद्धम् । तत्र माध्वः शङ्कते—मिथ्यात्वमिति । अत्रेत्यादेरुत्तरेणाऽन्वयः ॥ ४१ ॥

सर्वत्र धर्माणां स्वविरोधिप्रतिक्षेपकत्वे धर्मिसमसत्ताकत्वमेव तन्त्रम्, न पारमार्थिकत्वमपि; व्यावहारिकेणाऽपि घटत्वेनाऽघटत्वादिप्रतिक्षेपदर्शनात् । अतो जगत्समसत्ताकेनाऽपि मिथ्यात्वेन सत्यत्वप्रतिक्षेपसिद्धिरित्याशयेन परिहरति—स्वाश्रयेति । स्वविरुद्धधर्महरः स्वविरुद्धधर्मप्रतिक्षेपक इत्यर्थः । सत्यत्वनिवृत्तिहेतुः सत्यत्वप्रतिक्षेपहेतुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

आदि) होते हैं, अतः कोई अर्थक्रिया तो अवश्य है, तथापि कहींपर दोष या सामान्यज्ञानरूप अध्यासहेतुके उच्छेदरूप उपरामसे अथवा कहीं विशेषदर्शनप्रयुक्त अधिष्ठानके ज्ञानसे बाध हो जानेपर सब अर्थक्रियायें नहीं होतीं, ऐसा तत्त्वशुद्धिकार आदिका मत है ॥ ४० ॥

'मिथ्यात्वम्' इत्यादि । पूर्वोक्त उपपादनसे वस्तुका मिथ्यात्व होनेपर भी अर्थक्रियाकी सिद्धिमें कोई विरोध नहीं आता, अतः प्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध है। यहाँ माध्वमतानुयायी शङ्का करते हैं—यदि मिथ्यात्वको मिथ्या मानोगे, तो जगत्का सत्यत्व होगा और मिथ्यात्वको सत्य मानोगे, तो द्वैतापत्ति होनेसे अद्वैतकी हानि होगी यों उभयतःपाशा रज्जु होती है । इस शङ्काका अद्वैतदीपिकाकारके मतसे समाधान करते हैं ॥ ४१ ॥

'स्वाश्रयसम०' इत्यादि । सर्वत्र धर्मोंको अपने विरोधीका प्रतिक्षेप करनेमें धर्मिसमसत्ताकत्व ही नियामक है; इसमें पारमार्थिक होनेकी आवश्यकता नहीं रहती । व्यावहारिक घटत्वसे भी अघटत्वका प्रतिक्षेप होते देखा जाता है, अतः स्वाश्रय

९. औपाधिकजीवभेदेन सुखदुःखाद्यसांकर्यव्यवस्थावादः

ननु भिन्नैर्जीवैः सद्वितीयता ब्रह्मणः कुतो न स्यात् ।
नैषां भेदाभावादुपाधिभेदात् सुखादिवैचित्र्यम् ॥ ४३ ॥
सत्यप्युपाधिभेदे तदभेदेऽस्याऽनपायितया ।
उपपद्यतां कथं वा सुखदुःखादिव्यवस्थितिस्तत्र ॥ ४४ ॥

नन्वेवमचेतनस्य जगतोऽपि मिथ्यात्वे चेतनानामपवर्गभाजां मिथ्यात्वायोगात्कथं तैः सुखदुःखादिवैचित्र्यात् परस्परं भिन्नैर्ब्रह्मणः सद्वितीयता न स्यादिति शङ्कते—नन्विति । एवं च अद्वितीयब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयो न युक्त इति भावः । नैवं सद्वितीयता ब्रह्मणः, जीवानां परस्परं भेदाभावात् । ननु तर्हि सुखादिवैचित्र्यं न स्यादिति चेत् , न; अन्तःकरणोपाधिभेदेन तद्वैचित्र्योपपत्तेरिति केषांचिन्मतेन परिहरति—नैषामिति ॥ ४३ ॥

ननूपाधिभेदे सत्यपि तदुपहितानां सुखदुःखाद्याश्रयाणां जीवानामभेदानपायात् कथं सुखदुःखादिव्यवस्थोपपद्यतामिति शङ्कते—सतीति । तत्रेत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥४४॥

समसत्ताक धर्म ही स्वविरुद्ध धर्मको हरता है, ऐसा नियम बन जानेके कारण जगत्-समानसत्तावाले मिथ्यात्वसे सत्यत्वका प्रतिक्षेप (विनाश) सिद्ध हो सकता है; ऐसा कहते हैं ॥ ४२ ॥

शङ्का करते हैं—'ननु' इत्यादिसे ।

यदि शङ्का हो कि अचेतन जगत् भले ही मिथ्या हो, परन्तु मुक्त होनेवाले चेतन जीवोंको मिथ्या मानना युक्त नहीं है, इस परिस्थितिमें सुख, दुःख आदिके वैचित्र्यसे परस्पर भिन्न उन जीवोंके द्वारा ब्रह्मकी सद्वितीयता क्यों न होगी ? तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उन जीवोंका भेद है ही नहीं । सुख, दुःख आदिका वैचित्र्य जो दीखता है, सो तो उपाधिभेदसे है । अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे सुखादि-वैचित्र्यकी उपपत्ति हो सकती है, अतः इन जीवोंसे ब्रह्मकी सद्वितीयता नहीं होती । इसलिए अद्वितीय ब्रह्ममें सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंका समन्वय सर्वथा युक्त है ॥ ४३ ॥

शङ्का करते हैं कि उपाधिका भेद होनेपर भी तदुपहित जीवोंका, जो सुख-दुःखादिके आश्रय हैं, जब अभेद बना रहता है, तब सुखादिककी व्यवस्था कैसे हो सकती है ? यों शंका करते हैं—'सत्यप्यु०' इत्यादिसे ।

उपाधि-भेदके होनेपर भी उपहितका अभेद ज्यों का त्यों होनेके कारण सुख, दुःख आदि की व्यवस्था उपपन्न कैसे होगी ? [तत्रशब्दका उत्तर श्लोकके साथ अन्वय है ।] ॥४४॥

अन्तःकरणस्यैव श्रुत्या तद्धर्मकत्वोक्तेः ।
तद्भेदादेवोक्ता व्यवस्थितिः स्यादिति प्राहुः ॥ ४५ ॥
अन्ये तु चिदाभासः सुखदुःखाद्याश्रयस्ततः सेति ।
अन्तःकरणविशिष्टस्तदाश्रयस्तेन सेत्यपरे ॥ ४६ ॥

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः' इत्यादिश्रुत्याऽन्तःकरणस्यैव सुखदुःखाद्याश्रयत्वाभिधानात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति जीवस्योदासीनत्वश्रवणादन्तःकरणोपाधिभेदादेव सुखादिव्यवस्थोपपद्यत इति मतेन समाधत्ते— अन्तःकरणस्येति । कथं तर्ह्यात्मन्यहं सुखीत्यादिभोक्तृत्वादिप्रत्ययः ? अभीषणायामपि रज्जौ भीषणसर्पतादात्म्यारोपेणाऽयं भीषण इत्यभिमानवदसङ्गात्मनि भोक्त्रहंकारतादात्म्यारोपाद्भोक्तृत्वाद्यभिमानोपपत्तेरिति भावः ॥ ४५ ॥

जडस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेः अन्तःकरणाध्यस्तश्चिदाभास एव बन्धाश्रयः । अतस्तत्तद्भेदादिव्यवस्थेति मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । चिदाभासाभेदाध्यासात् कूटस्थसंसाराभिमानः, स एव बन्ध इति न बन्धमोक्षवैयधिकरण्यमिति भावः ।

समाधान करते हैं—'अन्तःकरण०' इत्यादिसे ।

'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः' (काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति,) इत्यादि श्रुतिसे सुख, दुःख आदिका आश्रय अन्तःकरण ही कहा गया है और 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे जीव असंग उदासीन कहा गया है । अतः अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे ही सुखादिकी व्यवस्था हो सकती है । यदि शङ्का हो कि जब सुखादि अन्तःकरणके धर्म हैं, तब आत्मामें 'मैं सुखी' यों भोक्तृपनका अनुभव कैसे होता है ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे अभीषण रज्जुमें भीषण सर्पका तादात्म्यारोप होते ही 'भीषण' ऐसा अभिमान होता है, वैसे ही असङ्ग आत्मामें भोक्तृरूप अहङ्कारका तादात्म्यारोप होनेके कारण भोक्तृत्वादिका अभिमान होता है ॥ ४५ ॥

इसी विषयमें मतान्तर दर्शाते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

अन्यमतवालोंका कहना है कि जड़में भोक्तृता घटती नहीं है, अतः अन्तःकरणाध्यस्त चिदाभास ही बन्धका आश्रय है, इससे तत्-तद्भेदादिकी व्यवस्था होती है और चिदाभासके साथ अभेदाध्यास होनेसे कूटस्थको संसाराभिमान होता है, यही बन्ध है, इसलिए बन्ध और मोक्षका वैयधिकरण्य—भिन्नाधिकरणता—नहीं होता ।

भोक्तृमनःसांनिध्यादात्मनि भोक्तृत्वमन्यदध्यस्तम् ।
तदुपाधिभेदतस्तद्व्यवस्थितिः साधुरित्यन्ये ॥ ४७ ॥
इतरे त्वेकस्मिन्नपि शुद्धे भेदप्रकल्पनाऽस्तीति ।
आश्रयभेदादेव प्रकृते सुवचा व्यवस्थेति ॥ ४८ ॥

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यन्तःकरणादिविशिष्टस्य भोक्तृत्वादिश्रवणादन्तःकरणभेदेन तद्विशिष्टभेदादिव्यवस्थेति मतान्तरमाह—अन्तःकरणेत्यादिना । न चैवं विशिष्टस्य बन्धः शुद्धस्य मोक्ष इति वैयधिकरण्यम् , विशिष्टगतस्य बन्धस्य विशेष्येऽनन्वयाभावाद्विशिष्टस्याऽनतिरेकादिति भावः ॥ ४६ ॥

जपाकुसुमोपाधिसांनिध्यात् स्फटिके लौहित्यान्तरवत् भोक्त्रन्तःकरणोपाधिसांनिध्यात् शुद्धेऽप्यात्मनि भोक्तृत्वान्तरमध्यस्तमस्ति । तस्यैकत्वेऽपि तदुपाधिभेदात् सुखादिव्यवस्थोपपन्नेति मतान्तरमाह—**भोक्तृमन इति** । न च अन्यभेदादन्यत्र विरुद्धधर्मव्यवस्था न युज्येत इति वाच्यम्, मूलाग्ररूपोपाधिमात्रेण वृक्षे संयोगतदभावदर्शनादिति भावः ॥ ४७ ॥

आश्रयभेदादेव विरुद्धधर्मव्यवस्थेति नियमाभ्युपगमेऽप्येकस्मिन्नेव निष्कृ-

---

अपर-मतवाले कहते हैं कि 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको मनीषी पुरुष भोक्ता कहते हैं) इस श्रुतिमें अन्तःकरणादिसे विशिष्ट चैतन्यको भोक्ता बतलाया है, इससे अन्तःकरण आदिके भेदसे तद्विशिष्टके भेद आदिकी व्यवस्था हो सकेगी। यदि इस मतमें विशिष्टका बन्ध और शुद्धका मोक्ष माननेसे वैयधिकरण्य होगा, ऐसी शङ्का हो, तो इसका समाधान यह है कि विशिष्टगत बन्धका विशेष्यमें भी अन्वय होगा, क्योंकि विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं है, इससे ऊपरकी शङ्काका अवकाश नहीं है ॥ ४६ ॥

सुखादिकी व्यवस्थाका उपपादन करनेके लिए मतान्तर कहते हैं—'**भोक्तृमनः**' इत्यादिसे ।

जपापुष्पके सान्निध्यसे स्फटिकमें जैसे अन्यकी रक्तता उत्पन्न होती है, वैसे ही भोक्ताकी अन्तःकरणरूप उपाधिके सान्निध्यसे शुद्ध आत्मामें भी दूसरेका भोक्तृत्व अध्यस्त होता है । आत्माका एकत्व होनेपर भी उपाधिका भेद होनेसे सुखादिकी व्यवस्था उपपन्न हो सकती है । यदि यह कहो कि अन्य-भेदसे अन्यत्र विरुद्ध धर्मकी व्यवस्था नहीं बन सकती, तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जैसे मूल और अग्र दो उपाधियोंके भेदसे वृक्षमें संयोग और उसका अभाव देखनेमें आता है, वैसे ही प्रकृतमें भी हो सकता है ॥ ४७ ॥

'इतरे तु' इत्यादि । अन्य-मतवाले तो यह कहते हैं कि आश्रयके भेदसे ही

१०. जीवानां सुखाद्यननुसंधानप्रयोजकोपाधिवादः

एवमुपाधिवशेन व्यवस्थितिर्यदि भवतु नामैवम् ।
तदननुसंधाने कः प्रयोजकः स्यादुपाधिरत्राऽऽहुः ॥ ४९ ॥
भोगायतनभिदाऽननुसंधानस्य प्रयोजिकेत्येके ।
विश्लेषशालिभोगायतनभिदा तत्प्रयोजिकेत्यपरे ॥ ५० ॥

ष्टचैतन्ये उपाधिभेदेन भेदकल्पना संभवतीति मणिमुकुराद्युपाधिकल्पितप्रतिबिम्ब-रूपाश्रयभेदादवदातश्यामत्वादिव्यवस्थेव प्रकृतेऽपि कल्पिताश्रयभेदेन सुखदुःखा-दिव्यवस्था सुवचेति मतान्तरमाह—**इतरे त्विति** ।

एवमुपाधिभेदेन सुखदुःखादिव्यवस्थासंभवमुपपाद्य जीवानां परस्परं सुखाद्यननु-संधाने प्रयोजकोपाधिं पृच्छति—**एवमिति** ॥ ४९ ॥

उक्तमाह—**भोगायतनेति** । ननु हस्तपादादिशरीरावयवानां भोगायतनत्वा-विशेषात् तद्भेदोऽप्यननुसंधाने प्रयोजकः स्यात् । न च इष्टापत्तिः, तथात्वे पादलग्नकण्टकोद्धाराय हस्तव्यापारो न स्यात् । हस्तावच्छिन्नस्य वेदनाननुसंधाना-

---

विरुद्ध धर्मकी व्यवस्था होती है, ऐसा नियम माननेपर भी एक ही निष्कृष्ट चैतन्यमें उपाधिके भेदसे भेदकी कल्पना हो सकती है। जैसे मणि, आदर्श आदि उपाधियोंसे कल्पित जो प्रतिबिम्बरूप आश्रयभेद है, उससे निर्मल और मलिन आदिकी व्यवस्था होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी कल्पित आश्रयके भेदसे ही सुखादिकी व्यवस्था बन सकती है, ऐसा निःशङ्क कहा जा सकता है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार उपाधिके भेदसे सुख, दुःख आदिकी व्यवस्थाका उपपादन करके जीवोंके सुखादिके परस्पर अननुसन्धानमें प्रयोजक उपाधिके विषयमें प्रश्न करते हैं—'एवमुपाधि०' इत्यादिसे।

पूर्वोक्त रीतिसे उपाधिवशात सुखादिकी व्यवस्था यदि हो, तो भले ही हो, परन्तु जीवोंमें एकको दूसरेके सुखादिका अनुसंधान नहीं होता, इसमें प्रयोजक उपाधि कौन होगी ? इस विषयमें मतभेदप्रदर्शनपूर्वक उपाधिका निरूपण करते हैं ॥ ४९ ॥

'भोगायतन०' इत्यादिसे । भोगायतनका (शरीरका) भेद सुखादिके अननु-सन्धानका प्रयोजक है, ऐसा कई एक कहते हैं ।

शङ्का—शरीरके अवयवभूत हाथ, पैर आदिमें भोगायतनत्वकी समानरूपसे ही स्थिति होनेके कारण उनका भेद भी सुखादिके अननुसन्धानमें प्रयोजक क्यों न हो ? यदि इस बातको इष्ट मान लें, तो चरणमें लगे हुये कंटकको निका-

इतरे शरीरभेदस्तथेति केचिन्मनोभिदैवमिति ।
अज्ञानभेद एव प्रयोजकः स्यादिहेत्येके ॥ ५१ ॥

दिति चेत्, न; हस्तावच्छिन्नस्य तदननुसंधानेऽप्यवयवावयविनोः पादावच्छिन्नस्याऽनुसंधानाद्धस्तव्यापारोपपत्तेरिति भावः । हस्तावच्छिन्नस्याऽपि चरणावच्छिन्नवेदनाननुसंधानमभ्युपगम्य मतान्तरमाह—**विश्लेषशालीत्यादिना** । अत्र विश्लेषशब्देन एकस्मिन्नवयविनि घटकत्वेनाऽननुप्रविष्टत्वं विवक्षितम् । तेन मातृगर्भस्थशरीरयोर्विश्लिष्टतया न गर्भस्थस्य मातृसुखानुसंधानप्रसङ्गः । हस्तपादयोस्तु संश्लिष्टत्वेन तदवच्छिन्नयोः परस्परानुसंधानमिष्टमेवेति भावः ॥ ५० ॥

मतान्तरमाह—**इतर इति** । तथा—प्रयोजक इत्यर्थः । नन्ववयवोपचयादिना शरीरभेदात् कथं यौवने बाल्यपुत्राद्यनुसंधानमिति चेत्, न; ऐन्द्रजालिकशरीरादाविव सर्वत्र माययैवोपचयादिकल्पनौचित्यात् तत्कल्पितोपचयादेः शरीरभेद-

---

लनेके लिए हस्तका व्यापार नहीं होगा, क्योंकि हस्तावच्छिन्न चैतन्यको चरणमें लगे हुये कण्टकसे वेदनाका अनुसन्धान नहीं होगा ।

समाधान—नहीं ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि हस्तावच्छिन्न चैतन्यको वेदनाका अनुसन्धान न हो, तो भले ही न हो, परन्तु अवयव पाद और अवयवी शरीर—इन दोनोंका अभेद होनेसे 'पादावच्छिन्न वेदनावान् मैं हूँ' ऐसा शरीरावच्छिन्नको अनुसन्धान होनेके कारण हस्तव्यापार हो सकता है ।

हस्तावच्छिन्न चैतन्यको भी चरणावच्छिन्न वेदनाका अनुसन्धान नहीं होता, ऐसा स्वीकार करके मतान्तर कहते हैं—विश्लेषशाली (विभक्त) भोगायतन (शरीर) का भेद सुखाद्यननुसन्धानका प्रयोजक है । यहाँ विश्लेषशब्दसे एक अवयवमें घटकरूपसे अननुप्रविष्ट, ऐसा अर्थ विवक्षित है । ऐसा माननेसे माता और गर्भस्थ शरीर—इन दोनोंके विश्लिष्ट होनेके कारण गर्भस्थको मातृसुखादिके अनुसन्धानका प्रसङ्ग नहीं आता । और हस्त और चरण तो संश्लिष्ट हैं, अतः तदवच्छिन्न दोनों चैतन्योंको परस्पर अनुसन्धान होता है ॥ ५० ॥

इसी विषयमें और तीन मतान्तर दर्शाते हैं—'इतरे' इत्यादिसे ।

अन्यमतवाले, शरीरका भेद ही सुखादिके अननुसन्धानका प्रयोजक है, ऐसा कहते हैं ।

शङ्का—जब अवयवोंका उपचय (वृद्धि) होनेसे भी शरीरभेद हो जाता है, तब बाल्यमें अनुभूत सुखादिका यौवनमें अनुसन्धान कैसे होगा ?

समाधान—ऐन्द्रजालिक शरीरादिकी नाँई सर्वत्र मायासे ही उपचयादिकी

तस्माज्जडस्य जगतो मिथ्यात्वाद्देहिनां पराभेदात् ।
मानान्तराविरोधाद्ब्रह्मणि वेदान्तसंगतिः सिद्धा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीपरमशिवेन्द्र-
पूज्यपादशिष्य-श्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रविरचित-
वेदान्तसिद्धान्तकल्पवल्ल्यां
द्वितीयः स्तबकः समाप्तः ।

कल्वायोगादिति भावः । प्रागुक्तान्तःकरणभेद एव प्रयोजक इति मतान्तरमाह—**केचिन्मनोभिदेति** । एवं प्रयोजक इत्यर्थः । पूर्वोक्ताज्ञानभेद एव प्रयोजक इति मतान्तरमाह—**अज्ञानेति** ॥ ५१ ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रपञ्चितं प्रकृतमविरोधमुपसंहृत्य पूर्वस्तबकसिद्ध-समन्वयेन संगमयति—**तस्मादिति** ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्परमशिवेन्द्रपूज्यपाद
शिष्यश्रीसदाशिव-ब्रह्मेन्द्रिप्रणीतश्रीवेदान्तसिद्धान्त-
कल्पवल्लीव्याख्यायां केसरवल्ल्याख्यायां
द्वितीयः स्तबकः ।

कल्पना उचित होनेके कारण मायोपकल्पित उपचयादिमें शरीरभेदकत्व नहीं होता । कई एक तो मनोभेद ही सुखादिके अनन्नुसन्धानमें प्रयोजक होता है, ऐसा कहते हैं । इस विषयमें कई एकका तो अज्ञानभेद ही सुखादिके अननुसन्धानका प्रयोजक है; ऐसा मत है ।। ५१ ।।

प्रासङ्गिक विषयकी परिसमाप्ति करके इतने ग्रन्थसे प्रपञ्चित प्रकृत अविरोधका उपसंहार करके पूर्वस्तबकसिद्ध समन्वयके साथ सङ्गति करते हैं—'तस्माज्जडस्य' इत्यादिसे ।

चूँकि उक्त प्रकारसे जड़ जगत् मिथ्या है, देहीका—आत्माका—परसे (परमात्मासे) अभेद है और किसी प्रमाणान्तरसे विरोध नहीं है, इसलिए ब्रह्ममें ही सब वेदान्तोंकी सङ्गति सिद्ध होती है ।। ५२ ।।

महामहोपाध्यायपण्डितवर श्रीहाथीभाईशास्त्रिविरचित-सिद्धान्त-
कल्पवल्ली-भाषानुवादमें द्वितीय स्तबक समाप्त ।

तृतीयः स्तबकः ।

१. कर्मणां विद्योपयोगप्रकारवादः

ज्ञानेनैव ब्रह्मावाप्तिः कथमन्यतोऽपि तत्स्मरणात् ।
नाऽन्यानुपयोगात्तत्प्राप्तावज्ञाननाशरूपायाम् ॥ १ ॥

प्रथमस्तबकेन सर्ववेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि समन्वये द्वितीयेन तदविरोधे समर्थिते तादृशब्रह्मप्राप्तौ ज्ञानमेव साधनं नान्यदिति समर्थनाय शङ्कते—ज्ञानेनैवेति । अन्यतः ज्ञानादन्येन कर्मणेत्यर्थः । तत्स्मरणादिति 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति कर्मणां ब्रह्मप्राप्तिस्मरणादित्यर्थः । विस्मृतकण्ठचामीकरस्येव नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणोऽज्ञाननिरासरूपायां तत्प्राप्तौ ज्ञानमात्रस्योपयोगेन तदन्यस्य कर्मणोऽनुपयोगान्नैवमिति परिहरति—नाऽन्यानुपयोगादित्यादिना । 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिश्रुत्या साधनान्तरप्रतिषेधात् । स्मृतेश्च ब्रह्मावाप्तौ कर्मणः परम्परासाधनत्वपरत्वान्न विरोध इति भावः ॥ १ ॥

प्रथम स्तबकमें सभी वेदान्तोंका अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय दिखलाकर द्वितीय स्तबकसे उस समन्वयका किसी भी प्रमाणके साथ विरोध नहीं है, ऐसा समर्थन किया । अब तृतीय स्तबकमें उक्त ब्रह्मकी प्राप्तिमें ज्ञान ही साधन है; अन्य साधन नहीं है, ऐसा समर्थन करनेके लिए शङ्का करते हैं—'ज्ञानेनैव' इत्यादिसे ।

ज्ञानसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा नियम क्यों ? ज्ञानको छोड़ कर कर्मसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (कर्मसे ही जनकादि संसिद्धिको प्राप्त हुए) इस स्मृतिवचनमें ब्रह्मप्राप्तिके प्रति कर्म भी कारण कहा गया है । इस शङ्काका परिहार करते हैं—अज्ञाननाशरूप ब्रह्मप्राप्तिमें ज्ञानके सिवा अन्यका उपयोग न होनेसे कर्म कारण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि विस्मृत कण्ठके आभरणकी नाईं ब्रह्म नित्य प्राप्त ही है, पर अज्ञानसे अप्राप्तसा प्रतीत होता है, उस अज्ञानके निरासमें ज्ञानमात्रका उपयोग है, अतः अज्ञाननिरासरूप ब्रह्मकी प्राप्तिमें ज्ञानसे अतिरिक्त कर्मादिका उपयोग नहीं हो सकता । 'नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (मोक्षकी प्राप्तिका ज्ञानको छोड़कर कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं) इत्यादि श्रुतिसे अन्य साधनका स्पष्ट निषेध है । अतः जो स्मृतिवाक्य कहा गया है, उसका ब्रह्मप्राप्तिमें परम्परासे कर्म साधन हैं, ऐसा तात्पर्य होनेके कारण विरोध नहीं है ॥ १ ॥

कर्मनिकरोपयोगं वाचस्पतिराह वेदनेच्छायाम् ।
जगुरिष्यमाण एव ज्ञाने तं विवरणानुगताः ॥ २ ॥

२. आश्रमकर्मणामेव विद्योपयोगवादः

तत्राऽऽश्रमविहितानामुपयोगं कर्मणां विदुः केचित् ।
अन्ये कल्पतरूक्त्या विधुरकृतानामपीममभिदधति ॥ ३ ॥

क्व तर्हि कर्मणामुपयोग इत्यत आह—**कर्मेति**। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुतेर्यज्ञादीनां कर्मणां सन्प्रत्ययार्थत्वेन प्रधानभूतायां वेदनेच्छायामुपयोग इत्यर्थः। प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव वस्तुनि शाब्द-साधनतान्वय इति स्वर्गकामवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादिष्यमाणे ज्ञान एव यज्ञादीनामुपयोग इति मतान्तरमाह—**जगुरित्यादिना**। तं उपयोग-मित्यर्थः ॥ २ ॥

श्रुतौ वेदानुवचनग्रहणं ब्रह्मचारिकर्मणाम्, यज्ञदानग्रहणं गृहस्थकर्मणाम्,

---

तब कर्मोंका उपयोग कहाँ है? इसका उत्तर देते हैं—'कर्म०' इत्यादिसे ।

भामतीकार वाचस्पतिमिश्रका मत ऐसा है कि ज्ञानकी इच्छामें (जिज्ञासामें) सम्पूर्ण कर्मोंका उपयोग होता है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' (इस आत्माको ब्राह्मण लोग वेदानुवचनसे, यज्ञसे और तपसे जाननेकी इच्छा रखते हैं) इत्यादि श्रुतिसे यज्ञ, दान आदि कर्मोंका, सन् प्रत्ययके अर्थ प्रधानभूत वेदनकी इच्छामें उपयोग होता है । और विवरणकारप्रकाशात्म-श्रीचरणके अनुयायियोंका कहना है कि इष्यमाण (इच्छाविषयीभूत) ज्ञानमें कर्मोंका उपयोग है, क्योंकि 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' (प्रकृति—धातु—और प्रत्यय—इन दोनोंके अर्थमें प्रत्ययार्थका प्राधान्य है) इस सामान्य न्यायकी अपेक्षा 'इच्छाका विषय होकर शब्दसे जो बोध्य होता है, उसीमें शाब्द साध-नताका अन्वय होता है,' इस प्रकारके स्वर्गकामवाक्यमें कल्पित विशेषन्यायके बलवान् होनेसे इष्यमाण ज्ञानमें ही यज्ञादिका उपयोग मानना उचित है ॥ २ ॥

'तत्राऽऽश्रम०' इत्यादिसे । श्रुतिमें वेदानुवचन जो कहा है, वह ब्रह्मचारीके कर्मोंका उपलक्षण है और यज्ञ, दान आदिका जो ग्रहण है, वह गृहस्थ कर्मोंका

तत्राऽपि क्लृप्तफलतो नित्यानामेव कर्मणामितरे ।
काम्यानामपि तेषां संयोगपृथक्त्वनयतोऽन्ये ॥ ४ ॥

तपोऽनाशग्रहणं वानप्रस्थकर्मणामुपलक्षणमिति आश्रमकर्मणामेव विद्योपयोगः न विधुराद्यनुष्ठितकर्मणामिति मतं दर्शयति—तत्रेति । 'अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः' इत्यधिकरणभाष्ये विधुराद्यनुष्ठितजप्यादिकर्मणामपि विद्योपयोगोक्त्या 'विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि' इति सूत्रे आश्रमग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणमिति कल्पतरूक्त्या च विधुरकृतानामपि कर्मणामुपयोग इति मतान्तरमाह—अन्य इत्यादिना । इमम् उपयोगमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तेष्वपि नित्यानामेव कर्मणामुपयोगः, क्लृप्तस्य तत्फलस्यैव दुरितक्षयस्य विद्ययाऽपेक्षणात् । प्रकृतौ क्लृप्तोपकाराणामङ्गानां विकृताविव द्वारान्तरकल्पनालाघवेन यज्ञादिश्रुतेः काम्यसाधारण्यायोगादिति मन्यमानानां मतान्तरमाह—तत्रेति । उपयोगमाहुरित्यध्याहारः । नाऽत्र प्राकृताङ्गन्यायः । किन्तु विकृत्युपदिष्टाङ्गन्यायेन विनियोगोत्तरकालमुपकारद्वारकल्पनात् काम्यादीनामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विवि-

---

उपलक्षण है एवं तप आदि वानप्रस्थके कर्मोंका उपलक्षण है; अतः आश्रमविहित कर्मोंका ही विद्यामें उपयोग है, ऐसा कई एक मानते हैं। कल्पतरुकार अमलानन्दके कथनका अनुकरण करनेवाले अन्य यों कहते हैं कि विधुरकृत कर्मोंका भी विद्यामें उपयोग है अर्थात् 'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः' (ब्र० सू० ३।४।३६) इस अधिकरणके भाष्यमें विधुरादि द्वारा अनुष्ठित जपादि कर्मोंका भी विद्यामें उपयोग कहा गया है। तथा 'विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि' (ब्र० सू० ३।४।३२) इस सूत्रमें 'आश्रमग्रहण त्रैवर्णिकका उपलक्षण है' इस कल्पतरुके वचनसे उपर्युक्त विधुरकृत कर्मका भी विद्यामें उपयोग सम्मत है ॥ ३ ॥

इसी विषयमें और दो मत दर्शाते हैं—'तत्राऽपि' इत्यादिसे।

उन कर्मोंमें भी नित्यकर्मोंका ही उपयोग है, क्योंकि नित्य कर्मोंका क्लृप्त फल जो दुरितक्षय है उसकी विद्या अपेक्षा रखती है, ऐसा इतर मानते हैं। जैसे प्रकृतिमें क्लृप्त उपकारवाले अङ्गोंका अतिदेश होनेके कारण विकृतिमें प्राकृत उपकारसे अतिरिक्त उनसे उपकारकी कल्पना नहीं होती; वैसे ही ज्ञानमें विनियुक्त यज्ञादि कर्मोंका नित्य क्लृप्त जो पापक्षयरूप फल है, उससे पृथक् कोई नित्य-काम्यसाधारण विद्योपयोगी उपकारककी कल्पना नहीं होती। यहाँ प्राकृताङ्गन्याय नहीं है, किन्तु विकृतिमें उपदिष्ट अङ्गोंके न्यायसे विनियोगोत्तर कालमें उपकाररूप द्वारकी कल्पना होती है, जिससे

३. संन्यासस्य विद्याविनियोगवादः

तर्हि कया वा द्वारा संन्यासस्योपयुक्तिराचक्ष्व ।
कर्माविनाश्यदुरितध्वंसद्वारेति चक्षते केचित् ॥ ५ ॥
केचिददृष्टद्वारा तस्याः श्रवणाङ्गतामाहुः ।
दृष्टद्वारा त्वपरे विक्षेपाभावलक्षणया ॥ ६ ॥

दिषोपयोगसंभव इति मतान्तरमाह—**काम्यानामित्यादिना** । अत्राऽपि पूर्ववदध्याहारः ॥ ४ ॥

कर्मणां ज्ञानोपयोगं प्रदर्श्य संन्यासस्य तं दर्शयितुं पृच्छति—**तर्हीति** । उपयुक्तिः उपयोग इत्यर्थः । 'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रुतेः कर्मवद्दुरितक्षयलक्षणचित्तशुद्धिद्वारैव संन्यासस्योपयोग इति मतेन समाधत्ते—**कर्माविनाश्येत्यादिना** । कर्मभिरेव दुरितक्षयसिद्धेः संन्यासवैयर्थ्यमित्याशङ्कापरिहारार्थं कर्माविनाश्येति दुरितविशेषणम् ॥ ५ ॥

मतान्तरमाह—**अदृष्टेति** । 'शान्तो दान्तः' इति श्रुतावुपरतिशब्दितस्य संन्या-

---

काम्यादि कर्मोंका भी संयोगपृथक्त्वन्यायसे विविदिषामें उपयोग हो सकता है, ऐसा अन्य मानते हैं ॥ ४ ॥

कर्मोंका ज्ञानमें उपयोग है, यह बतला कर संन्यासका ज्ञानमें उपयोग होता है, यों प्रश्नपूर्वक दिखलाते हैं—'तर्हि' इत्यादिसे ।

तब संन्यासका ज्ञानमें किस प्रकारसे उपयोग है ? यह कहो । 'संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' (संन्यासयोगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले यति) इस श्रुतिसे कर्मके समान दुरितक्षयलक्षण चित्तशुद्धिके द्वारा संन्यासका उपयोग होता है, इस मतसे समाधान करते हैं—कर्मसे ही दुरितक्षय सिद्ध होता है; तब संन्यासकी व्यर्थता होगी ? इस शङ्काका परिहार बतलानेके लिए दुरितमें 'कर्माविनाश्य' यह विशेषण लगाया गया है । अर्थात् कर्मोंसे जिन दुरितोंका विनाश नहीं हो सकता, उन दुरितोंके नाशके द्वारा संन्यासका ज्ञानमें उपयोग है; ऐसा कई एक कहते हैं ॥ ५ ॥

'केचिद०' इत्यादि । कई एक तो अदृष्ट द्वारा संन्यासको श्रवणके प्रति अङ्ग कहते हैं अर्थात् 'शान्तो दान्त उपरतः' (शमवान, दमनशील और उपरतिमान) इस

संन्यासे त्वधिकारं ब्राह्मणवत् क्षत्रवैश्ययोरेके ।
ब्राह्मणजातेरेव प्राहुस्तं नाऽन्ययोरितरे ॥ ७ ॥

सस्य श्रवणाद्यङ्गसाधनचतुष्टयान्तर्भावदर्शनात् संन्यासपूर्वकत्वावश्यकत्वादिति भावः । मतान्तरमाह—दृष्टेति । दृष्टे संभवति अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद्विक्षेपाभावस्याऽवहितबुद्धिसाध्ये सर्वत्र लोकत एवाऽङ्गत्वसिद्धेः वचनाद्वैधसंन्यासलक्षणो विक्षेपाभावो नियम्यत इति भावः ॥ ६ ॥

संन्यासस्य ज्ञानोपयोगं द्वेधा प्रदर्श्य तदधिकारिणं निरूपयति—संन्यासे त्विति । 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतौ सामान्यतः क्षत्रियादिसाधारण्येन संन्यासविधानादिति भावः । 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', 'ब्राह्मणा व्युत्थाय', 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इत्यादिसंन्यासविधिषु ब्राह्मणग्रहणात्

श्रुतिमें उपरतिपदसे बोध्य संन्यासका श्रवण आदिके अङ्गभूत साधनचतुष्टयमें अन्तर्भाव होनेके कारण साधनके अनुष्ठानमें संन्यासपूर्वकत्वकी आवश्यकता है। अन्यमतवाले यों कहते हैं कि जबतक दृष्ट फलका सम्भव हो, तबतक अदृष्टकी कल्पना करना ठीक नहीं है, अतः अवहित (एकाग्र) बुद्धिसे साध्य सब कार्योंके प्रति विक्षेपाभावमें लोकसे ही अङ्गता सिद्ध होनेके कारण प्रकृत श्रवणादि साधनोंमें भी वैधसंन्यासलक्षण विक्षेपाभावका वचनके बलसे नियमन किया जाता है ॥ ६ ॥

संन्यासका दो प्रकारसे ज्ञानमें उपयोग दिखला कर उसके अधिकारीका निरूपण करते हैं—'संन्यासे' इत्यादिसे ।

ब्राह्मणकी नाईं क्षत्रिय और वैश्यका भी संन्यासमें अधिकार है, ऐसा कई एक आचार्य कहते हैं और दूसरे आचार्योंका कहना है कि संन्यासका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही है, अन्यको (क्षत्रिय और वैश्यको) नहीं है। प्रथम मतवाले मानते हैं कि 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (यदि प्राक्तन कर्मवश प्रबल वैराग्य हो, तो ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करे) इत्यादि श्रुतियोंसे सामान्यतः क्षत्रियादिसाधारण ही संन्यासका विधान देखा जाता है। और दूसरे मतवाले कहते हैं—'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (निर्वेदको (संन्यासको) ब्राह्मण प्राप्त करे), 'ब्राह्मणो-व्युत्थाय' (ब्राह्मण व्युत्थित—संन्यासी—होकर), 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' (ब्राह्मण, प्रव्रज्या—संन्यासदीक्षा—ग्रहण करे) इत्यादि संन्यासविधायक श्रुतिवाक्योंमें सर्वत्र ब्राह्मणपद निर्दिष्ट है एवं

४. श्रवणाधिकारवादः

संन्यासिन एव परं श्रवणाद्यधिकारिता मुख्या ।
गौणी राजन्यादेर्जन्मान्तरसंभवत्फलेत्यपरे ॥ ८ ॥

'अधिकारिविशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मणग्रहः ।
'न संन्यासविधिर्यस्माच्छ्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोः ॥'

इति वार्तिकोक्तेश्च ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः, न क्षत्रियवैश्ययोः । तयोस्तु संन्यासं विनैव श्रवणाद्यधिकारितेति मतान्तरमाह—**ब्राह्मणजातेरित्यादिना** ॥ ७ ॥

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुतेः 'आ सुप्तेरा मृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इति स्मृतेश्च अनन्यव्यापारतालक्षणब्रह्मसंस्थाशालिसंन्यासिन एव श्रवणाद्यधिकारिता मुख्या । स्वाश्रमधर्मव्यग्रक्षत्रियादेरनन्यव्यापारतासम्भवात् जन्मान्तरीयविद्याप्रापिका श्रवणाद्यधिकारिता गौणीति मतान्तरमाह—**संन्यासिन एवेति** ॥ ८ ॥

'अधिकारिविशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मणग्रहः ।
न संन्यासविधिर्यस्माच्छ्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोः ॥'

(चूंकि श्रुतियोंमें संन्यासके अधिकारिविशेषका बोधन करनेके लिए सर्वत्र ब्राह्मणपदका ही ग्रहण किया गया है; अतः क्षत्रिय और वैश्यको संन्यासका विधान नहीं है) इस प्रकार वार्त्तिककारका वचन है, अतः ब्राह्मण ही संन्यासका अधिकारी है। क्षत्रिय और वैश्य तो संन्यासके बिना ही श्रवणादिके अधिकारी हैं ॥ ७ ॥

'संन्यासिन' इत्यादि। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (ब्रह्ममें निष्ठावाला ही अमृतत्व—मोक्ष—प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे और 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' (नित्य सुषुप्तिपर्यन्त और मरणपर्यन्त वेदान्तके चिन्तन द्वारा कालका यापन करे) इस स्मृतिवाक्यसे अनन्यव्यापार—प्रवृत्त्यन्तरसे रहित—ब्रह्मसंस्थावान् संन्यासी ही श्रवण आदिमें मुख्य अधिकारी है, ऐसा प्रतीत होता है, अतः अपने अपने आश्रमधर्मोंके अनुष्ठानमें व्यग्र रहनेवाले क्षत्रियादिमें अनन्यव्यापारताका संभव न होनेके कारण श्रवण आदिमें उनकी जन्मान्तरमें विद्याप्राप्ति करानेवाली गौणी अधिकारिता है, ऐसा मतान्तर है ॥ ८ ॥

५. श्रवणस्याऽमुख्याधिकारिकृतस्य जन्मान्तरीज्ञानोपयोगित्ववादः

नन्‍ु कथमस्तु श्रवणं जन्मान्तरभावि बोधफलम् ।
दृष्टफलकत्वक्लृप्तेरमुष्य चाऽदृष्टजनकतायोगात् ॥ ९ ॥
यज्ञाद्यपूर्वमेव श्रवणस्य स्वकारितस्य विद्यायाम् ।
जन्मान्तरभाविन्यामप्युपकारित्वघटकमित्याहुः ॥ १० ॥

ननु सर्वत्र विचारस्य तात्कालिकविचार्यनिर्णयफलकत्वक्लृप्तेः क्षत्रियादिश्रवणं कथं जन्मान्तरीयब्रह्मनिर्णयफलकम् । न च विधिबलात् कथञ्चिददृष्टद्वारकल्पनेन तत्फलकत्वसिद्धिस्तस्येति वाच्यम्, साङ्गस्यैवाऽदृष्टजनकतया तस्य संन्यासरूपाङ्गवैकल्येनाऽदृष्टजनकत्वासिद्धेरिति शङ्कते—नन्विति ॥ ९ ॥

अमुख्याधिकारिणाऽप्युत्पन्नविविदिषेण क्रियमाणं श्रवणं द्वारीभूतविविदिषोत्पादकप्राचीनविद्यार्थयज्ञाद्यनुष्ठानजन्यापूर्वप्रयुक्तमिति तदेवाऽपूर्वं विद्यारूपफलपर्यन्तं व्याप्रियमाणं जन्मान्तरीयायामपि विद्यायां स्वकारितस्य श्रवणस्योपकारं घटयतीति श्रवणस्याऽदृष्टार्थत्वेऽपि नाऽनुपपत्तिरिति परिहरति—यज्ञादीति ॥ १० ॥

शङ्का करते हैं—'ननु कथमस्तु' इत्यादिसे ।

विचार अपने विचारणीय विषयके निर्णयरूप फलको सर्वत्र तत्क्षणमें ही उत्पन्न करता है, ऐसा नियम होनेके कारण क्षत्रियादिकृत श्रवणका ब्रह्मनिर्णयरूप फल जन्मान्तरमें कैसे माना जायगा ? यदि कहो कि विधिके बलसे कथंचित् अदृष्टरूप द्वारकी कल्पना करके क्षत्रियादि-श्रवणका जन्मान्तरीय फल सिद्ध होगा; तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि साङ्ग श्रवण ही अदृष्टजनक होता है, अतः संन्यासरूप अङ्गसे रहित श्रवण अदृष्टका जनक नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

'यज्ञाद्य०' इत्यादि। जिसको विविदिषा उत्पन्न हुई है, ऐसे अमुख्य अधिकारीके द्वारा किया गया श्रवण—यज्ञादिके अनुष्ठानसे प्राप्तव्य ब्रह्म-विद्यामें द्वारीभूत विविदिषाके उत्पादक प्राक्तन यज्ञादिसे जन्य अपूर्वसे ही—उत्पन्न होता है, अतः वही अपूर्व जबतक विद्यारूप फल न हो, तबतक प्रयोजक होनेसे जन्मान्तरीय विद्यामें भी स्वोत्पादित श्रवणका उपकार करता है, अतः श्रवणके अदृष्टार्थक होनेपर भी किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है ॥ १० ॥

यावद्ब्रह्मज्ञानोदयमाचरितं पुनः पुनः श्रवणम् ।
नियमादृष्टं जनयत्यतो न दोष इति विवरणाचार्याः ॥ ११ ॥
कृच्छ्राशीतिफलोक्तेः श्रवणमपूर्वं क्रमेण जनयित्वा ।
तद्द्वारा भाविफलं जनयेदिति केचिदभिदधति ॥ १२ ॥

श्रवणनियमविधिपक्षेऽपि ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं पुनः पुनः क्रियमाणं श्रवणं नियमादृष्टं जनयति, न ततः प्राक् । अतस्तद्बलात् श्रवणस्य जन्मान्तरीयज्ञान-फलकत्वं न विरुद्धमिति मतान्तरमाह—यावदिति ॥ ११ ॥

'दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुतात् ।
गुरुशुश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥'

इति स्मृत्या श्रवणस्य कृच्छ्राशीतिफलोक्तेः प्रतिदिनमनुष्ठितं श्रवणमपूर्वद्वारा जन्मान्तरे ज्ञानं जनयतीति मतान्तरमाह—कृच्छ्रेति । यथाऽग्न्यर्थस्याऽप्याधानस्य पुरुषसंस्कारेषु परिगणनात् पुरुषार्थत्वम्, तथा दृष्टस्याऽपि श्रवणस्य दिने दिने चेत्यादिवचनबलाददृष्टार्थत्वमपि सम्भवतीति भावः ॥ १२ ॥

इस विषयमें विवरणाचार्यका मत कहते हैं—'यावद्ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

श्रवण नियमविधि है, यों माननेवालेके पक्षमें भी ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त पुनः पुनः क्रियमाण श्रवण नियमादृष्टको उत्पन्न करता है, उससे पहले नहीं करता, अतः इस नियमादृष्टके बलसे यदि श्रवण जन्मान्तरमें ज्ञानरूप फल देनेवाला माना जाय, तो भी उसमें कोई विरोध नहीं होता ॥ ११ ॥

'कृच्छ्राशीति०' इत्यादि ।

'दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुतात् ।
गुरुशुश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥'

(गुरुशुश्रूषासे प्राप्त भक्तियुक्त प्रतिदिन किये गये वेदान्तश्रवणसे अस्सी कृच्छ्रका फल होता है) इस स्मृतिवाक्यसे श्रवणका अस्सी कृच्छ्र फल कहा गया है; अतः प्रतिदिन अनुष्ठित श्रवण अपूर्व द्वारा जन्मान्तरमें फल (ज्ञान) उत्पन्न करता है; ऐसा कई एक कहते हैं । जैसे अग्न्यर्थ आधानकी पुरुषके संस्कारोंमें गणना होनेके कारण उसमें पुरुषार्थता भी है, वैसे ही यद्यपि श्रवण दृष्टफलक है, तथापि 'दिने दिने' इत्यादि वचनसे अदृष्टफलक भी हो सकता है ॥ १२ ॥

६. निर्गुणस्याऽप्युपास्यत्ववादः

विद्यारण्यमुनीन्द्राः श्रवणस्येवाऽऽत्मविद्यायाम् ।
निर्गुणविषयोपास्तेर्मुख्यामुपकारितामाहुः ॥ १३ ॥

७. ब्रह्मसाक्षात्कारकारणवादः

अथ किं साक्षात्कारे करणं ब्रह्मैकगोचरे ब्रूहि ।
ब्रुवते केचित् प्रत्ययपौनःपुन्यं प्रसंख्यानम् ॥ १४ ॥

इत्थं श्रवणादेरेव ज्ञानसाधनत्वे निरूढेऽपि श्रवणादिवन्निर्गुणब्रह्मोपास्तेरपि तत्साधनत्वमिति मतं दर्शयति—विद्यारण्येति । प्रश्नोपनिषदि 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति निर्गुणोपासनां प्रकृत्य अनन्तरं 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति तत्समानकर्मसाक्षात्कारफलकीर्तनादिति भावः ॥ १३ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारप्रमासाधकेषु निर्णीतेषु तत्साधकतमनिर्णिनीषया पृच्छति—अथ किमिति । उत्तरमाह—ब्रुवत इत्यादिना । विधुरकामिनिसाक्षात्कारे करणत्वेन

श्रवणादिकी ज्ञानसाधनता निरूढ़ होनेपर भी श्रवणादिकी नाईं निर्गुण ब्रह्मोपासना भी ज्ञानकी साधन होती है, ऐसा मत दर्शाते हैं—'विद्यारण्य०' इत्यादिसे ।

विद्यारण्यमुनि श्रवणादिके समान निर्गुण ब्रह्मविषयक उपासनामें मुख्य उपकारिता कहते हैं अर्थात् निर्गुण ब्रह्मकी उपासनासे भी ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्रश्नोपनिषद्में 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणो-मित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' ('जो त्रिमात्र ॐ इस अक्षरसे पर पुरुषका अभिध्यान करता है) यों निर्गुणोपासनाका उपक्रम करके 'स एतस्माज्जीव-घनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (वह इस जीवघन परसे पर पुरिशय—देहस्थित—पुरुषको देखता है) इस प्रकार श्रवणके समान उपास्ति-कर्मका भी साक्षात्काररूप फल कहा है ॥ १३ ॥

ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रमाके साधकोंका निर्णय करके अब उस साक्षात्कारके साधकतमका निर्णय करनेके लिए पूछते हैं—'अथ किम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मैकगोचर साक्षात्कारके उत्पन्न होनेमें प्रकृष्ट उपकारक कौन है? उसे कहिये, कहते हैं—इस विषयमें कई एकका मत है कि प्रत्ययका पुनःपुनरावर्त्तनरूप प्रसंख्यान ब्रह्मसाक्षात्कारका परम कारण है । जैसे विधुरके कामिनीसाक्षात्कारमें प्रत्ययावृत्तिलक्षण

अपरे तु मनो हेतुस्तत्सहकारि प्रसंख्यानम् ।
तस्य करणत्वक्लृप्तेरहमनुभूताविति प्राहुः ॥ १५ ॥
इतरे तु महावाक्यं प्राहुरसाधारणो हेतुः ।
यन्मनसेति निषेधश्रवणान्न मनोऽत्र हेतुरिति ॥ १६ ॥

क्लृप्तस्य प्रत्ययावृत्तिलक्षणस्य प्रसंख्यानस्य क्लृप्तप्रमाणानन्तर्भावेऽपि तज्जन्य-साक्षात्कारस्येश्वरमायावृत्तिज्ञानवदर्थाबाधमात्रेण प्रमात्वसम्भवादिति भावः ॥ १४ ॥

'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्' इति श्रुतेः मन एव साक्षात्कारे करणम् । प्रसंख्यानं तु तत्सहकारिमात्रम् । मनसश्च अहंकारोपहितसाक्षात्कारे 'अहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते' इति श्रुत्युपदर्शितस्वाप्नब्रह्मसाक्षात्कारे करणत्वक्लृप्तेरिति मतान्तरमाह— अपरे त्विति ॥ १५ ॥

'तद्धास्य विजज्ञौ', 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' इत्यादिश्रुतिष्वाचार्योपदेशानन्तरमेव साक्षात्कारोदयाभिधानात् 'वेदान्त-विज्ञानसुनिश्चितार्थाः', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादिश्रुतिषु च ब्रह्मण

प्रसंख्यान करणत्वरूपसे कल्पित है । किन्तु इस प्रसंख्यानका क्लृप्त प्रमाणमें अन्तर्भाव न होनेपर भी तज्जन्य साक्षात्कारमें ईश्वरके मायावृत्तिरूप ज्ञानके समान अर्थके अबाधमात्रसे प्रमात्वका सम्भव है ॥ १४ ॥

'अपरे तु' इत्यादिसे । अपरमतवाले तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही अनुद्रष्टव्य है) इस श्रुतिसे मन ही साक्षात्कारमें करण है, यों कहते हैं । प्रसंख्यान तो मनका सहकारी है, क्योंकि अहङ्कारोपहित चैतन्यके साक्षात्कारके प्रति तथा 'अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते' (यह सब मैं ही हूँ, ऐसा मानता है) इस श्रुतिमें उपदर्शित स्वाप्न ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति मनमें करणत्व सिद्ध है ॥ १५ ॥

'इतरे तु' इत्यादि । इतर मतवाले तो ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही असाधारण हेतु हैं, ऐसा कहते हैं । 'तद्धास्य विजज्ञौ', तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (वह उसको स्फुट विज्ञात हुआ । उस निवृत्तमनोमल शिष्यको भगवान् सनत्कुमार तमका पार दर्शाते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे आचार्यके उपदेशके बाद ही ब्रह्मसाक्षात्कारका उदय कहा गया है । 'वेदान्त-विज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (वेदान्तविज्ञानसे ही जिनको परमार्थका निश्चय हो गया है) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (मैं उन उपनिषद्गम्य पुरुषको पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें उपनिषदेकवेद्यत्वका प्रतिपादन किया गया है; इससे

८. शाब्दापरोक्षवादः

साक्षात्कारं जनयेत् प्रत्ययसन्तानसहकृतं वाक्यम् ।
अग्निविशेषोपेतो होम इवाऽपूर्वमित्यपरे ॥ १७ ॥
ध्यानाभ्याससहायान्मनसो नष्टेष्टवस्तुविषयेव ।
साक्षात्कृतिरिह युक्ता वाक्याद्ब्रह्मावलम्बिनीत्यपरे ॥ १८ ॥

उपनिषदेकवेद्यत्वस्य प्रतिपादनाच्च ब्रह्मसाक्षात्कारे महावाक्यमेव करणम्, न तु मनः, 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादितत्करणत्वप्रतिषेधश्रवणादिति मतान्तरमाह—इतरे त्विति । 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्तु साक्षात्कारे हेतुत्वमात्रपरा, न तु कारणत्वपरा, तावतैव मनसेति तृतीयाया उपपत्तेरिति भावः ॥ १६ ॥

ननु वाक्यस्य परोक्षज्ञानजनकत्वक्लृप्तेः कथमपरोक्षज्ञानजनकत्वमित्याशङ्क्य स्वतः परोक्षज्ञानजननसमर्थमपि वाक्यं वैधाग्न्यधिकरणसहकृतो होमोऽपूर्वमिव विहितभावनाप्रचयसहकृतं सत् अपरोक्षज्ञानमपि जनयतीति मतान्तरमाह—साक्षात्कारमिति । औपनिषदे ब्रह्मणि मानान्तराप्रवृत्तेः परोक्षज्ञानेनाऽपरोक्षभ्रमनिवृत्त्ययोगाच्छब्दादपरोक्षज्ञानानुदयेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति भावः ॥ १७ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारमें महावाक्य ही करण हैं, मन नहीं, यह निश्चय होता है। क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' (जो मनसे मत नहीं होता) इत्यादि मनकी करणताका प्रतिषेध करनेवाला वचन है। और 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुति तो साक्षात्कारमें मनका हेतुत्वमात्र कहती है, असाधारण कारणत्व नहीं कहती। क्योंकि, उतना कहनेसे तृतीयाकी उपपत्ति हो जाती है ॥ १६ ॥

'साक्षात्कारम्' इत्यादि। वाक्य तो परोक्षज्ञानका जनक माना जाता है, अतः उसमें अपरोक्ष बोधकी जनकता कैसे होगी, ऐसी आशङ्का करके समाधान करते हैं कि वाक्य यद्यपि स्वतः परोक्षज्ञानके जननमें समर्थ हैं; तथापि विधिविहित अग्निरूप अधिकरणसे सहकृत होम जैसे अपूर्वको उत्पन्न करता है; वैसे ही प्रत्ययसन्तानरूप (विहितभावनाप्रचय) सहकारीके मिलनेसे वाक्य अपरोक्ष ज्ञानको भी उत्पन्न करता है, ऐसा अपर मानते हैं। उपनिषद्वेद्य ब्रह्ममें प्रमाणान्तरकी तो प्रवृत्ति है ही नहीं और परोक्ष ज्ञानसे अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति हो नहीं सकती, अतः यदि शब्दसे अपरोक्ष ज्ञानका उदय नहीं होगा, तो अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग हो जायगा, इसलिए शब्दको अपरोक्ष बोधका जनक मानते हैं ॥ १७ ॥

'ध्यानाभ्यास०' इत्यादि। मन बाहरके अर्थमें असमर्थ होनेपर भी भावना-

अन्ये तु सङ्गिरन्ते स्वत एव ब्रह्मणोऽपरोक्षतया ।
तद्विषयं हि ज्ञानं वाक्यजमपरोक्षमेव भवतीति ॥ १९ ॥
स्फुटचित्त्वमापरोक्ष्यं साक्षात्तद्ब्रह्मणोऽस्ति विषयादेः ।
तदभेदाद् गौणमिति प्रवदन्त्यद्वैतविद्यार्याः ॥ २० ॥

बहिरसमर्थादपि भावनाप्रचयसहितादन्तःकरणान्नष्टेष्टकामिन्यादिवस्तुविषयकः साक्षात्कारो दृष्ट इति तद्वदिहापि निदिध्यासनप्रचयसहकृताद् वाक्यादेव ब्रह्मविषयकः साक्षात्कारो युक्त इति दृष्टानुरोधेन समर्थयमानानां मतमाह—**ध्यानेति** ॥ १८ ॥

ज्ञानापरोक्ष्ये विषयापरोक्ष्यमेव प्रयोजकम्, न करणविशेषः । विषयापरोक्ष्यं च वृत्तिद्वारकं स्वाभाविकं वा । तत्र 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इति श्रुतेः ब्रह्मणः स्वभावत एवाऽपरोक्षत्वेन तद्विषयकं ज्ञानं वाक्याज्जायमानमपरोक्षमेव भवतीति मतान्तरमाह—**अन्ये त्विति** ॥ १९ ॥

न अपरोक्षवस्तुविषयकत्वं ज्ञानापरोक्ष्यम्, स्वप्रकाशस्वरूपसुखाव्यापनात् । किन्तु अभिव्यक्तचित्स्वरूपमेव । तच्च ब्रह्मण एव साक्षादस्ति, विषयादेस्त्वभिव्यक्तचैतन्याभेदाद्गौणमिति मतान्तरमाह—**स्फुटचित्त्वमिति** ॥ २० ॥

प्रचयरूप ध्यानाभ्याससे सहकृत होकर जैसे नष्ट कामिनी आदि इष्टके साक्षात्कारका हेतु देखा जाता है, वैसे ही यहाँ प्रकृतमें निदिध्यासनप्रचयरूप सहकारी कारणसे संयुक्त होकर वाक्य भी ब्रह्मविषयक साक्षात्कारका जनक हो सकता है, यों दृष्टानुरोधसे अपने पक्षका समर्थन करनेवाले कई एक मानते हैं ॥ १८ ॥

'अन्ये तु' इत्यादि । अन्य कहते हैं कि 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षरूप है) इस श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म स्वतः ही अपरोक्ष है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है, क्योंकि ज्ञानकी अपरोक्षतामें केवल विषयकी अपरोक्षता ही अपेक्षित है कोई दूसरा कारणविशेष अपेक्षित नहीं है। और विषयका अपरोक्षत्व वृत्तिके द्वारा होता है या तो स्वाभाविक होता है । यहाँ ब्रह्मका अपरोक्षत्व स्वाभाविक होनेसे मूलमें 'स्वत एव' ऐसा कहा है ॥ १९ ॥

'स्फुटचित्त्व०' इत्यादि । ज्ञानका अपरोक्षत्व अपरोक्षवस्तुविषयकत्व नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप सुखमें अपरोक्षता होनेपर भी अपरोक्षवस्तुविषयकता नहीं है, किन्तु स्फुटचित्त्व (अभिव्यक्तचित्स्वरूपत्व) ही अपरोक्षत्वका प्रयोजक है, ऐसा मानना उचित है । और यह अभिव्यक्तचित्स्वरूपता साक्षात् ब्रह्मकी ही है विषयादिमें तो अभिव्यक्त चैतन्यके साथ अभेद होनेके कारण गौणी है, ऐसा अद्वैतविद्याचार्यका मत है ॥ २० ॥

९. अज्ञाननिवर्तकवादः

अथ चाक्षुषवृत्त्याऽपि ब्रह्माज्ञानं निवर्ततामिति चेत् ।
अत्राऽऽचार्याश्चाक्षुषवृत्तिश्चिद्गोचरैव नेत्याहुः ॥ २१ ॥
चिद्विषयिण्यपि सा न ब्रह्माज्ञानस्य वारिका किन्तु ।
वेदान्तजैव वृत्तिः श्रुतिनियमादृष्टसहकृतेत्यपरे ॥ २२ ॥

नन्वेवं घटादिविषयचाक्षुषवृत्त्या घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्त्या ब्रह्मा-वारकमूलाज्ञानं कुतो न निवर्तते, घटाद्याकारवृत्तेरप्यभिव्यक्तचिदंशे मूलाज्ञानसमान-विषयकत्वसत्त्वादिति शङ्कते—अथ चाक्षुषेति । न चाक्षुषवृत्तिश्चैतन्यविषयिणी, 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' इत्यादिश्रुत्या चैतन्यस्य परमाणुवच्चक्षुराद्ययोग्यत्वादिति मतेन परिहरति—अत्रेत्यादिना ॥ २१ ॥

अस्तु घटादिचाक्षुषवृत्तिरपि चिद्विषयिणी, तथापि सा न ब्रह्मावारकमूला-ज्ञाननिवृत्तिहेतुः । किन्तु श्रवणनियमादृष्टसहकृतवेदान्तवाक्यजन्यवृत्तिरेवेति मता-न्तरमाह—चिद्विषयिणीति ॥ २२ ॥

'अथ' इत्यादि । शङ्का करते हैं कि यदि स्फुटचित्त्वको ही अपरोक्षताका प्रयोजक मानते हो, तो घटादिविषयक चाक्षुषवृत्तिसे घटाद्यधिष्ठान ब्रह्मचैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेके कारण उससे भी ब्रह्मके आवारक मूलाज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि घटा-द्याकारवृत्तिमें भी चिदंशके अभिव्यक्त होनेपर मूलाज्ञानसमानविषयकत्व है ही ।

इस शङ्काका समाधान करते हैं—'अत्रा०' इत्यादिसे । इस विषयमें कुछ आचार्योंका यह कहना है कि चैतन्यको विषय करनेवाली चाक्षुषवृत्ति ही नहीं होती, क्योंकि 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' (इसका रूप दृष्टिगोचर नहीं होता और न कोई इसको चक्षुसे देखता है) इत्यादि श्रुतियोंसे चैतन्यको परमाणुके समान चक्षुरादि इन्द्रियोंका अविषय ही माना है ॥ २१ ॥

'चिद्विषयिण्यपि' इत्यादि । घटादिविषयक चाक्षुषवृत्ति चिद्विषयिणी भले ही हो; तथापि वह ब्रह्मके आवारक मूलाज्ञानकी निवृत्तिमें हेतु नहीं होती; क्योंकि श्रवणनियमादृष्टसे सहकृत जो वेदान्तवाक्यजन्य वृत्ति है, वही मूलाज्ञानकी निवर्त्तक होती है, ऐसा अपर मानते हैं ॥ २२ ॥

वाक्योद्भवैव वृत्तिः स्वरूपसम्बन्धभेदेन ।
ब्रह्माज्ञानं क्षपयेन्न तु चाक्षुपवृत्तिरित्यपरे ॥ २३ ॥
अथ निजहेतुमविद्यां विद्या विनिवर्तयेत्कथं नाम ।
इह केचन वेणूत्थितवह्निज्वालेव वेणुमित्याहुः ॥ २४ ॥

१०. ब्रह्माकारवृत्तिनाशकवादः

अज्ञानोन्मूलनकं ज्ञानं वृत्त्यात्मकं कथं नश्येत् ।
अत्राऽऽहुः कतकरजोन्यायात्स्वयमेव नश्यतीत्येके ॥ २५ ॥

प्रत्यग्ब्रह्माभेदगोचरा 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्यैव वृत्तिः पदार्थशोधना-सहितस्वरूपसम्बन्धविशेषेण तदभेदगोचरं मूलाज्ञानं निवर्तयेत्, न तु चाक्षुषवृत्तिरिति मतान्तरमाह—**वाक्येति** ॥ २३ ॥

ननु प्रत्यगभिन्नब्रह्माकारा वृत्तिः स्वहेतुभूतामविद्यां कथं निवर्तयेदित्याशङ्क्य नाऽयं नियमः, साक्षाद्वेणुजन्याया अग्निज्वालायास्तद्विरोधित्वदर्शनादिति परि-हरति—**अथेति** । घटादिज्ञानेषु समानविषयकाज्ञानबाधकत्वस्य क्लृप्तत्वाच्चेति भावः ॥ २४ ॥

ननु स्वकार्याविद्यानिवर्तकवृत्तेः केन निवृत्तिः ? वृत्त्यन्तरेणेति चेदनवस्था ।

'वाक्योद्भवैव' इत्यादि । प्रत्यगात्मा और ब्रह्मके अभेदको विषय करने-वाली 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्यजन्य वृत्ति ही स्वरूपसम्बन्ध-विशेषसे उसके अभेदको विषय करनेवाले मूलाज्ञानको निवृत्त करती है, चाक्षुष वृत्ति मूलाज्ञानको निवृत्त नहीं करती, ऐसा अन्य मानते हैं ॥ २३ ॥

'अथ' इत्यादि । यदि शङ्का हो कि प्रत्यगभिन्न-ब्रह्माकार जो वृत्ति है, वह अपने हेतुभूत अविद्याको कैसे निवृत्त करेगी ? तो समाधान करते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं है कि कार्य अपने हेतुकी निवृत्तिका निमित्त नहीं होता, क्योंकि साक्षात् वेणुसंघर्षसे उत्पन्न हुई अग्निकी ज्वाला अपने कारण वेणुको भी जलाती है । और घटादिज्ञानमें समानविषयक अज्ञानबाधकत्व क्लृप्त भी है ॥ २४ ॥

'अज्ञानो०' इत्यादि । अविद्यानिवर्तक स्वकार्यभूत वृत्तिकी निवृत्ति किससे होगी ? यदि उसकी निवर्तक दूसरी वृत्ति मानोगे, तो फिर उसकी निवृत्तिके लिए वृत्त्यन्तर माननेसे अनवस्था होगी । यदि इस चरमवृत्तिकी निवृत्ति न मानो, तो द्वैतापत्ति होगी,

तप्तायःपतितयोन्यायमिहोदाहरन्त्यन्ये ।
दग्धतृणकूटदहनोदाहरणं केचिदत्राऽऽहुः ॥ २६ ॥
वृत्त्यारूढः साक्षी शमयेत्सविलासमज्ञानम् ।
आरुह्य सूर्यकान्तं दहति तृणं रविकरो यथेत्येके ॥ २७ ॥

अनिवृत्तौ तु तथैव वृत्त्या द्वैतापत्तिरित्यर्धेनाऽऽशङ्क्य, तत्र मतत्रयोक्तदृष्टान्तत्रयेण सार्धश्लोकेन परिहरति—**अज्ञानेति** । यथा वारिक्षिप्तकतकरेणुस्तद्गतं पङ्कं निवर्त्य स्वयमप्यन्यानपेक्षो निवर्तते, यथा तप्तायःपिण्डनिक्षिप्तो जलबिन्दुः तद्गतं भस्म क्षालयित्वा स्वयमपि शुष्यति, यथा वा तृणकूटं दग्ध्वा वह्निर्भूमौ स्वयमेव शाम्यति, तथा अखण्डाकारवृत्तिरज्ञानं दग्ध्वा ब्रह्मणि स्वयमेव शाम्यतीत्यर्थः ॥२५–२६॥

उक्तदृष्टान्तेषु कालादृष्टादिकारणान्तरसंम्भवेन तद्वैषम्यमाशङ्क्य मतान्तरमाह—**वृत्तीति** । वृत्त्यभिव्यक्तं ब्रह्मैव अज्ञानं तत्कार्यं तदन्तर्गतां वृत्तिं च नाशयति । यथा सूर्यकान्तशिलारूढः सूर्यकरः तृणं दहति, तद्वदित्यर्थः । तथा च न द्वैतापत्तिरिति भावः ॥ २७ ॥

यों आधे श्लोकसे शङ्का करके तीन मतके तीन दृष्टान्त डेढ़ श्लोकसे दर्शा कर समाधान करते हैं—जैसे गन्दे जलमें डाली गई निर्मली जलगत पङ्कको निवृत्त करती हुई स्वयं (अन्यकी अपेक्षा किये विना ही) निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये, ऐसा कई एक कहते हैं । इस विषयमें दूसरे लोग ऐसा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे तप्तलोहके ऊपर पड़ा हुआ जलबिन्दु तद्गत भस्मका क्षालन कर स्वयं भी शुष्क हो जाता है; वैसे ही यह वृत्ति निवृत्त होती है, और कई एक तो जैसे तृणसमूहका दाह करके अग्नि भूमिमें स्वयमेव उपशान्त हो जाती है, वैसे ही अखण्डाकारवृत्ति भी अज्ञानका दाह कर ब्रह्ममें स्वयं उपशान्त हो जाती है, ऐसा कहते हैं ॥ २६ ॥

उक्त दृष्टान्तोंमें काल, अदृष्ट इत्यादि अन्य कारणोंका भी संभव होनेके कारण तत्प्रयुक्त वैषम्यकी आशङ्का करके अन्य मतका निरूपण करते हैं—'वृत्त्यारूढः' इत्यादिसे ।

वृत्तिमें आरूढ़ साक्षी (वृत्त्यभिव्यक्त ब्रह्मचैतन्य) ही अज्ञान और अज्ञानकार्यके अन्तर्गत वृत्तिका नाश करता है । जैसे सूर्यकान्तमणिपर आरूढ़ सूर्यकिरण तृणको जलाती हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये, अतः द्वैतापत्ति नहीं होती ॥ २७ ॥

अज्ञानमेव साक्षाज्ज्ञानान्नश्यति जगत्तु तन्नाशात् ।
जीवन्मुक्तिरपीत्थमविद्यालेशेन घटत इत्यन्ये ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपरमशिवेन्द्र-
पूज्यपादशिष्य-श्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रविरचित-
वेदान्तसिद्धान्तकल्पवल्ल्यां
तृतीयः स्तबकः समाप्तः ॥

न तावद् अज्ञानात् सविलासाज्ञाननाशः, तथात्वे प्रारब्धस्याऽपि नाशग्रस्त-त्वेन जीवन्मुक्त्ययोगात् । किन्तु परस्परविरोधात् ज्ञानादज्ञानमात्रं नश्यति, प्रपञ्च-स्तूपादाननाशात् । एवञ्च उपादानमन्तरेण कार्यस्थित्ययोगात् जीवन्मुक्तिसिद्धये प्रारब्धकर्मणा तच्छरीराद्युपादानाविद्यालेशनाशः प्रतिबध्यत इत्यविद्यालेशेन जीव-न्मुक्तिरप्युपपद्यत इत्याशयेन मतान्तरमाह—अज्ञानमिति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्परमशिवेन्द्रपूज्यपाद-
शिष्यश्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रप्रणीतश्रीवेदान्तसिद्धान्त-
कल्पवल्लीव्याख्यायां केसरवल्ल्याख्यायां
तृतीयः स्तबकः ॥

ज्ञानसे सविलास अज्ञानका नाश होता है, यों माननेपर प्रारब्ध भी नष्ट हो जायगा, ऐसी अवस्थामें जीवन्मुक्ति नहीं हो सकेगी; अतः परस्पर विरोध होनेके कारण ज्ञानसे अज्ञानमात्रका नाश होता है और प्रपञ्च तो उपादानके नाशसे निवृत्त होता है, ऐसा मतान्तर दर्शाते हैं—'अज्ञानमेव' इत्यादिसे ।

ज्ञानसे साक्षात् अज्ञान ही निवृत्त होता है और जगत् तो उपादानके नाशसे निवृत्त होगा । एवञ्च उपादानकी स्थितिके बिना कार्यकी स्थिति नहीं हो सकती; अतः जीवन्मुक्तिकी सिद्धिके लिए प्रारब्धकर्मसे तत्-तत् शरीरादिके उपादान अविद्या लेशका नाश (प्रतिबन्ध) हो जानेके कारण अविद्यालेशसे जीवनमुक्ति हो सकती है; ऐसा अन्य कहते हैं ॥ २८ ॥

महामहोपाध्याय पण्डितवर श्रीहाथीभाईशास्त्रिविरचितसिद्धान्तकल्पवल्ली-
भाषानुवादमें तृतीय स्तबक समाप्त ।

चतुर्थः स्तबकः

१. अविद्यालेशवादः

कोऽयमविद्यालेशो जीवन्मुक्तिर्हि यदनुषङ्गेण ।
अत्राऽऽचख्युः कतिचिदविद्याविक्षेपशक्तिरेष इति ॥ १ ॥
अपरे क्षालितमदिराघटगन्धसमैव वासना स इति ।
अन्ये स दग्ध वासोन्यायादनुवृत्तिभागविद्येति ॥ २ ॥

एवं मुक्तिसाधने निर्णीते तत्फलनिरूपणं प्रकृतजीवन्मुक्तिनिर्वाहकाविद्यालेश-परीक्षामुखेनाऽऽरभते—**कोऽयमिति**। ज्ञानेनाऽविद्याया आवरणशक्त्यंश एव नश्यति; विक्षेपशक्त्यंशस्तु प्रारब्धेन प्रतिबद्धत्वान्न नश्यति। स एष एवाऽविद्यालेश इति मतेनोत्तरमाह—**अत्रेत्यादिना** ॥ १ ॥

'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति' इति वार्तिकविरोधमाशङ्क्य मतान्तरमाह—**अपर इति**। निराश्रय-

---

पूर्व स्तवकमें मुक्ति-साधनका निर्णय करके अब उन साधनोंके फलका, प्रकृत जीवन्मुक्तिके निर्वाहक अविद्यालेशकी आलोचनाके द्वारा, निरूपण करते हैं—**'कोऽयमविद्या०'** इत्यादिसे।

जिस अविद्यालेशके अनुषङ्गसे जीवन्मुक्ति (सुखानुभूति) होती है, वह अविद्यालेश कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि अविद्याकी विक्षेपशक्ति ही अविद्यालेश कहलाती है अर्थात् ज्ञानसे अविद्याकी आवरणशक्ति ही निवृत्त होती है और विक्षेपशक्तिका अंश, जो प्रारब्धरूप प्रतिबन्धकसे प्रतिबद्ध होनेके कारण निवृत्त नहीं होता, अतः वही—अविद्याविक्षेपशक्ति ही—अविद्यालेश है ॥ १ ॥

उपर्युक्त मतमें—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्या सह कार्येण नाऽऽसीदस्ति भविष्यति ॥

('तत्त्वमसि' आदि महावाक्यसे उत्पन्न होनेवाले सम्यक् ज्ञानके जन्ममात्रसे ही अविद्या अपने कार्यों सहित न हुई, न है और न होगी) इस वार्त्तिकके वचनके साथ विरोध होगा, ऐसी शंका होनेपर मतान्तर दर्शाते हैं—'अपरे' इत्यादिसे ।

कुछ लोग कहते हैं—मदिरावाले घटको धोनेपर भी जैसे उसमें मदिराका गन्ध

सर्वज्ञात्ममुनीन्द्रास्त्वाहुर्ब्रह्मात्मविज्ञानात् ।
स्वाविद्याविनिवृत्तौ नाऽविद्यालेशसंभवोऽस्तीति ॥ ३ ॥

२. अविद्यानिवृत्तिस्वरूपवादः

अथ केयमविद्याया विनिवृत्तिर्नाम तच्छृणुत ।
ब्रह्मैव नातिरिक्ता सेत्याहुर्ब्रह्मसिद्धिकाराद्याः ॥ ४ ॥

वासनावस्थानायोगमाशङ्क्य मतान्तरमाह—अन्ये स इत्यादिना । सः—अविद्यालेश इत्यर्थः ॥ २ ॥

विरोधिज्ञानोदयेऽविद्याया निवृत्तौ लेशतोऽपि तस्याः शेषो न संभवति, तत्संभवे तन्नाशाय ज्ञानान्तरकल्पने तस्यैव लाघवादविद्यानाशकत्वौचित्यादिति मतान्तरमाह—सर्वज्ञेति । 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुतेरात्मज्ञानप्रशंसार्थत्वेन जीवन्मुक्तौ तात्पर्याभावादर्थवादमात्रत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

तत्राऽविद्यानिवृत्तिरूपज्ञानफलस्वरूपनिर्णयाय पृच्छति—अथेति । नित्यसिद्धस्य

(मदिराकी वासना) रहता है, वैसे ही अविद्याके निवृत्त होनेपर जो उसकी वासना रहती है, वही अविद्याका लेश कहलाता है ।

वासनाकी किसी आश्रयके बिना अवस्थिति नहीं हो सकती, अतः अन्य मत दर्शाते हैं—दग्ध वस्त्रकी नाईं आभासकी अनुवृत्तिसे युक्त अविद्या ही अविद्यालेश है, ऐसा अन्य मानते हैं ॥ २ ॥

'सर्वज्ञात्म०' इत्यादि । सर्वज्ञात्ममुनीन्द्र तो यों कहते हैं कि ब्रह्मात्मविज्ञानसे अपनी अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर अविद्यालेशका संभव हो नहीं सकता, क्योंकि विरोधी ज्ञानका उदय होते ही जब सारी अविद्याकी निवृत्ति हो जायगी, तब उसका लेश हो ही नहीं सकता । यदि माना जाय, तो उसकी निवृत्तिके लिए अन्य ज्ञानकी कल्पना करनी पड़ेगी, अतः इसी ज्ञानको अविद्यानाशक माननेमें लाघव है । 'तस्य तावदेव चिरम्' यह श्रुति तो केवल आत्मज्ञानकी प्रशंसा करती है, अतः जीवन्मुक्तिमें तात्पर्य न होनेसे वह अर्थवादमात्र है ॥ ३ ॥

अविद्यानिवृत्तिरूप जो ज्ञानका फल कहा गया है, उसके स्वरूपके निर्णयके लिए पूछते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

यह जो अविद्याकी विनिवृत्ति कही वह कौन है ? सुनो, कहते हैं—नित्यसिद्ध

आनन्दबोधगुरवोऽविद्याविनिवृत्तिरात्मनो भिन्ना ।
सदसत्सदसन्मिथ्याप्रकारभिन्नप्रकारिकेत्याहुः ॥ ५ ॥
अद्वैतबोधगुरवस्त्वात्मज्ञानैककालीना ।
विनिवृत्तिरविद्यायाः क्षणिका सा भावविक्रियेत्याहुः ॥ ६ ॥

ब्रह्मस्वरूपस्याऽसत्त्वापादकत्वादविद्यैवाऽभावः। तन्निवृत्तिश्च ब्रह्मस्वरूपैवेति मतेनोत्तरमाह—ब्रह्मैवेत्यादिना । तथा च यस्मिन् सति यत्सत्त्वं यदभावे च यदभावः तत् तत्र कारणमिति ज्ञानस्य ब्रह्मस्वरूपमुक्तिं प्रति योगक्षेमसाधारणहेतुत्वं सम्भवतीति भावः ॥ ४ ॥

आत्मान्यैवाऽविद्यानिवृत्तिः। सा च न सती, द्वैतापत्तेः; नाऽप्यसती, ज्ञानसाध्यत्वायोगात्; नाऽपि सदसती, विरोधात्; नाऽप्यनिर्वाच्या, अनिर्वाच्यस्योपाधेरज्ञानापादकत्वनियमेन मुक्तावपि तदनुवृत्तिप्रसङ्गात्, ज्ञानानिवर्त्यत्वापत्तेश्च । किन्तु उक्तप्रकारचतुष्टयातिरिक्तप्रकारेति मतान्तरमाह—आनन्दबोधेति ॥ ५ ॥

अस्त्वनिर्वचनीयैव सा, तथापि नोपादानाविद्यालेशप्रसक्तिः । उत्पत्तिद्वितीयक्षणे

ब्रह्मस्वरूपकी असत्त्वापादक होनेसे अविद्या ही अभाव है और उसकी निवृत्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई निवृत्ति पदार्थ है ही नहीं, ऐसा ब्रह्मसिद्धिकारादिका मत है। इस परिस्थितिमें जिसके रहनेपर जो रहता है और जिसके अभावमें जो नहीं रहता, वह उसके प्रति कारण होता है, यह फलतः प्राप्त होता है। इससे सार यह निकला कि ब्रह्मस्वरूप मुक्तिके प्रति ज्ञानमें योगक्षेम-साधारण हेतुता हो सकती अर्थात् ज्ञान मुक्तिका उत्पादक और रक्षक है ॥ ४ ॥

इसी विषयमें मकरन्दकार आनन्दबोधाचार्यका मत दर्शाते हैं—'आनन्दबोध०' इत्यादिसे ।

आनन्दबोध गुरुका मत है कि अविद्यानिवृत्ति आत्मासे भिन्न है और वह यदि सत् हो, तो द्वैतापत्ति होगी। यदि उसे असत् कहें, तो उसमें ज्ञानसाध्यता नहीं बनती। विरोध होनेसे सत् और असत् तो उसको कह नहीं सकते। यदि इन सब विकल्पोंसे बचनेके लिए उसे अनिर्वचनीय मानें, तो अनिर्वाच्य उपाधि नियमसे अज्ञानकी आपादक होती है, इससे मुक्तिमें भी उसकी अनुवृत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानसे अनिवर्त्यत्वकी भी आपत्ति होगी। इससे फलित यह हुआ कि उक्त चारों प्रकारोंसे भिन्न पाँचवें प्रकारकी अविद्यानिवृत्ति माननी चाहिये ॥ ५ ॥

'अद्वैतबोध०' इत्यादिसे । अद्वैतबोध गुरु तो अविद्यानिवृत्तिको आत्मज्ञान

३. मुक्तिस्वरूपवादः

नन्वज्ञाननिवृत्तेः क्षणिकत्वान्मुक्तिरस्थिरा स्याच्चेत् ।
ब्रह्मानन्दस्फूरणं दुःखाभावश्च मुक्तिरित्याहुः ॥ ७ ॥
ननु तस्याः क्षणिकत्वे मुक्तिर्न स्थिरपुमर्थ इति मैवम् ।
सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावान्न हि तथेत्याहुः ॥ ८ ॥

उत्पन्नोऽयं घटः नोत्पद्यत इति उत्पत्तेरवर्तमानत्ववत् निवृत्त्यनन्तरमपि द्वितीयक्षणे निवृत्तोऽयं न निवर्तते इति व्यवहारेण निवृत्तेरप्यवर्तमानत्वेन क्षणिकभावविकार-विशेषरूपत्वम् । तथा च अविद्यानिवृत्तिरात्मज्ञानोदयानन्तरक्षणवर्तिनी भावविक्रियेति न कश्चिद्दोष इति मतान्तरमाह—अद्वैतेति ॥ ६ ॥

नन्वेवमविद्यानिवृत्तेः क्षणिकत्वे मोक्षस्य स्थिरपुरुषार्थत्वं न स्यादित्याशङ्क्य नाऽविद्यानिवृत्तिः स्वतः पुरुषार्थः, तस्याः सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात् । किन्तु अखण्डानन्दस्फुरणं संसारदुःखोच्छेदश्च । तदुपयोगितया च तस्यास्तत्त्वज्ञानसाध्य-त्वमुपेयत इति केषांचिन्मतेन परिहरति—**नन्विति** ॥ ७ ॥

एतच्छ्लोकार्थ एव पुनः श्लोकान्तरेणोच्यते—**ननु तस्या इति** ॥ ८ ॥

समकालीन मानकर उसको क्षणिक भावविकाररूप मानते हैं अर्थात् यह अविद्या-निवृत्ति भले ही अनिर्वचनीया हो; तथापि उपादानभूत अविद्यालेशका प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि जैसे उत्पत्तिके द्वितीय क्षणमें 'यह घट उत्पन्न हुआ' 'उत्पन्न होता नहीं है' इस प्रकार उत्पत्ति अवर्त्तमान हो जाती है, वैसे ही निवृत्तिके अनन्तर द्वितीय क्षणमें 'यह निवृत्त हुआ' 'निवृत्त होता नहीं' इस प्रकारके व्यवहारसे निवृत्तिमें भी अवर्त्तमानत्व अवगम होनेसे वह क्षणिक भावविकारविशेषरूप है । इसलिए अविद्यानिवृत्ति आत्मज्ञानोदयके अनन्तरक्षणवर्त्तिनी भावविक्रिया है, ऐसा माननेमें किसी दोषकी आपत्ति नहीं आती ॥ ६ ॥

'नन्वज्ञाननिवृत्तेः' इत्यादिसे । यों अविद्यानिवृत्तिको क्षणिक माननेसे मुक्ति कोई स्थिर पुरुषार्थरूप नहीं रहती, इस शङ्काके परिहारमें कहते हैं कि अविद्या-निवृत्ति कोई स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि वह सुख या दुःखाभाव—इन दोनोंमें से कोई एक नहीं है, किन्तु अखण्डानन्द स्फुरण और दुःखोच्छेदरूप जो पुरुषार्थ है, उसमें उपयोगी है, अतः अविद्यानिवृत्तिमें तत्त्वज्ञानसाध्यत्व माना जाता है, ऐसा कई एक मानते हैं ॥ ७ ॥

'ननु तस्याः' इत्यादिसे । यदि अविद्यानिवृत्तिको क्षणिक मानोगे, तो मुक्ति

चित्सुखचरणास्त्वाहुर्दुःखाभावोऽपि न पुमर्थः ।
सुखशेषत्वात्तस्य स्वरूपसुखमेव तादृगिति ॥ ९ ॥

४. ब्रह्मानन्दस्य प्राप्यत्ववादः

नित्यप्राप्तोऽप्ययमानन्दः स्वाविद्यया तिरोभूतः ।
तन्नाशे प्राप्यत इव कण्ठाभरणं यथेत्याहुः ॥ १० ॥
आनन्दो नाऽस्तीति व्यवहारात् संसृतौ तदप्राप्तिः ।
सा विद्यया निवृत्तेत्याहुः प्राप्तिं परे मुख्याम् ॥ ११ ॥

दुःखाभावो न स्वतः पुरुषार्थः, सर्वत्र दुःखाभावस्य स्वरूपसुखाभिव्यक्तिप्रतिबन्धकाभावतया सुखशेषत्वात् । स्वरूपसुखमेव पुरुषार्थ इति मतान्तरमाह—**चित्सुखचरणा इति** ॥ ९ ॥

नन्वयमानन्दः प्रत्यगात्मरूपत्वान्नित्यप्राप्त इति कथं तत्प्राप्तिर्ज्ञानफलमित्याशङ्कायां केषांचिन्मतमाह—**नित्येति** । एवञ्च आनन्दस्य गौण्येव प्राप्तिर्ज्ञानफलमिति भावः ॥ १० ॥

संसारदशायां आनन्दो नाऽस्ति न भातीति व्यवहारादावरणप्रयुक्ता काचित्तस्य

स्थिर पुरुषार्थरूप नहीं होगी, ऐसी शङ्का करके उसका उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इस अविद्यानिवृत्तिके सुख या दुःखाभाव स्वरूप न होनेसे उसमें पुरुषार्थत्व नहीं है ॥ ८ ॥

'चित्सुख०' इत्यादि । दुःखाभाव स्वतः कोई पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि वह सुखका शेष है अर्थात् दुःखाभाव सर्वत्र स्वरूपसुखकी अभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धकाभावरूप है, अतः वह स्वरूपसुखका शेष है; इसलिए शेषीरूप स्वरूपसुख ही पुरुषार्थ है, ऐसा चित्सुखाचार्यका मत है ॥ ९ ॥

'नित्यप्राप्तो०' इत्यादि । यह आनन्द प्रत्यगात्मरूप होनेसे नित्यप्राप्त ही है, अतः उसकी प्राप्ति ज्ञानफल कैसे है ? ऐसी शंका करके समाधान करते हैं कि यद्यपि यह आनन्द नित्यप्राप्त ही है; तथापि स्वीय अविद्यासे वह तिरोभूत है; जब अविद्याका नाश होता है; तब विस्मृत कण्ठाभरणकी नाईं प्राप्त हुआ-सा अनुभूत होता है अर्थात् इस आनन्दकी गौणी ही प्राप्ति ज्ञानका फल माना जाता है ॥ १० ॥

'आनन्दो' इत्यादि । संसारदशामें 'आनन्द है नहीं और भासता भी नहीं है, ऐसा व्यवहार होनेसे आवरणप्रयुक्त उस आनन्दकी अप्राप्ति अध्यस्त

आनन्दः संसारे सन्नपि पारोक्ष्यतो न पुरुषार्थः ।
अपरोक्षतया मुक्तिदशायां पुरुषार्थ इत्येके ॥ १२ ॥

अज्ञानेनाऽध्यस्तश्चैतन्यानन्दयोः पुरा भेदः ।
तन्नाशे भेदलयात्तदापरोक्ष्यं भविष्यतीत्यन्ये ॥ १३ ॥

अप्राप्तिरध्यस्यते । विद्ययाऽऽवरणनिवृत्तौ तत्प्रयुक्ताऽप्राप्तिर्निवर्तत इत्यप्राप्तिः प्राप्तिश्च मुख्यैवेति मतमाह—आनन्द इति ॥ ११ ॥

संसारदशायां आनन्दस्याऽऽवृतत्वेन परोक्षत्वान्न स पुरुषार्थः । मुक्तिदशायां तु आवरणभङ्गेनाऽपरोक्षत्वात् पुरुषार्थो भवतीति मतान्तरमाह—आनन्द इति । न च संसारदशायां आनन्दस्य स्वरूपज्ञानेनाऽऽपरोक्ष्यमस्ति, तदाऽस्य तदभिन्नत्वादिति वाच्यम्, नहि स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभेदमात्रमापरोक्ष्यम्, येन तथा स्यात्; किन्तु अनावृतचैतन्याभेद एव । तथा च अनावृतत्वस्य तदानीमभावेन न दोष इति भावः ॥ १२ ॥

अस्तु स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभेदमात्रमापरोक्ष्यम्, तथापि अज्ञानमहिम्ना जीवभेदवच्चैतन्यानन्दयोर्भेदोऽप्यध्यस्त इति संसारदशायां पुरुषान्तरस्य पुरुषान्तर-

---

होती है, फिर विद्यासे आवरणकी निवृत्ति होनेपर वह आवरणप्रयुक्त अप्राप्ति भी निवृत्त हो जाती है, इस रीतिसे अप्राप्ति और प्राप्ति दोनों मुख्य ही हैं; ऐसा अन्य कहते हैं ॥ ११ ॥

'आनन्दः' इत्यादि । संसारदशामें आनन्द तो है ही, किन्तु परोक्ष होनेसे वह पुरुषार्थ नहीं है । मुक्तिदशामें तो आवरणका भङ्ग हो जानेके कारण वह अपरोक्ष होकर पुरुषार्थ होता है, ऐसा कई एकका मत है । संसारदशामें भी आनन्द स्वरूपज्ञानसे अपरोक्ष है ही; क्योंकि उस समय आनन्दकी स्वरूपज्ञानसे अभिन्नता है, ऐसी शंका करके परिहार करते हैं कि स्वव्यवहारानुकूल चैतन्याभेदमात्र अपरोक्षत्व नहीं है, जिससे कि उक्त शंका हो, किन्तु अनावृत चैतन्याभेद ही अपरोक्षत्व है, अतः संसारदशामें अनावृतत्वका अभाव होनेसे कोई दोष नहीं है ॥ १२ ॥

'अज्ञानेना०' इत्यादि । स्वव्यवहारानुरूप चैतन्याभेदमात्रमें अपरोक्षत्व भले ही माना जाय, तथापि अज्ञानकी महिमासे जैसे जीवभेद अध्यस्त है, वैसे ही चैतन्य और आनन्दका भेद भी अध्यस्त है, अतः संसारदशामें एक पुरुषको

५. मुक्तस्य ब्रह्मभाववादः

अथ मुक्त ईश्वरः स्यादाहो शुद्धात्मनाऽवशिष्येत।
अत्रैकजीववादे स शिष्यते शुद्धरूपेण ॥ १४ ॥
नानाजीवमतेऽपि प्रतिबिम्बेशानदर्शने तस्य।
प्रतिबिम्बान्तरभावायोगाद्बिम्बात्मनाऽस्ति परिशेषः ॥ १५ ॥

चैतन्यापरोक्ष्यवदनवच्छिन्नानन्दापरोक्ष्यमपि नाऽस्ति। अज्ञाननाशे तु चिदानन्दभेद-विलयात्तदापरोक्ष्यमिति मतान्तरमाह—**अज्ञानेति** ॥ १३ ॥

ज्ञानफलप्राप्तौ निर्णीतायां प्राप्यस्वरूपनिर्णयाय पृच्छति—**अथेति**। तत्र प्रथममेकजीववादेन समाधत्ते—**अत्रेत्यादिना**। एकजीववादे तदेकाज्ञानकल्पितस्य जीवेश्वरविभागादिकृत्स्नभेदप्रपञ्चस्य तद्विद्योदये विलयान्निर्विशेषचैतन्यरूपेणाऽव-शिष्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

नानाजीववादेऽपि मायाप्रतिबिम्ब ईश्वर इति मतेऽविद्याप्रतिबिम्बजीवस्य स्वोपा-धिविनाशे प्रतिबिम्बान्तरभूतेश्वरभावप्राप्त्ययोगाद्बिम्बभूतशुद्धचैतन्यात्मना परिशेषो भवतीति समाधानान्तरमाह—**नानाजीवेति** ॥ १५ ॥

अन्य पुरुषके चैतन्यका जैसे अपरोक्षत्व नहीं है, वैसे ही अनवच्छिन्न आनन्दका भी अपरोक्षत्व नहीं है, परन्तु अज्ञानका नाश होनेपर चैतन्य और आनन्दके भेदका लय होनेसे उस आनन्दका अपरोक्षत्व स्वयं हो जायगा; ऐसा अन्य मानते हैं ॥ १३ ॥

'अथ मुक्त' इत्यादि। ज्ञानरूप फलकी प्राप्तिका निर्णय होनेपर प्राप्य-स्वरूपके निर्णयके लिए पूछते हैं—जीव मुक्त होकर ईश्वरभावको प्राप्त होता है? अथवा शुद्धात्मभावसे अवशिष्ट रहता है? इस विषयमें एकजीववाद-पक्षमें तो जीव शुद्धरूपसे रहता है, ऐसा माना जाता है, क्योंकि एकजीववादमें एक अज्ञानसे कल्पित जीवेश्वरादि सकल भेदप्रपञ्चका उस विद्याके उदयके होते ही विलय हो जानेके कारण निर्विशेष चैतन्यरूपसे वह अवशिष्ट रहता है ॥ १४ ॥

'नानाजीव०' इत्यादि। नाना जीववादीके मतमें भी मायाप्रतिबिम्ब ईश्वर है, इस मतमें अविद्याप्रतिबिम्ब जीवकी अपनी उपाधिभूत अविद्याका विनाश हो जानेपर प्रतिबिम्बभूत ईश्वरभावकी प्राप्तिका अयोग होनेसे बिम्बभूत शुद्धचैतन्या-त्मकस्वरूपसे उसका परिशेष है ॥ १५ ॥

बिम्बेश्वरवादे त्वीश्वरताप्राप्तिर्विमुक्तस्य ।
आसर्वमुक्त्यमुष्मिन् बिम्बत्वापह्नवायोगात् ॥ १६ ॥
परमार्थतस्तु मुक्तः सर्वेशत्वादिधर्मनिर्मुक्तम् ।
विगलितसर्वविकल्पं विमलं ब्रह्मैव केवलं भवति ॥ १७ ॥

अविद्यायामन्तःकरणे वा चित्प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बभूतस्त्वीश्वर इति मते मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्ति परमेश्वरभावापत्तिरिष्यते । यथाऽनेकेषु दर्पणेष्वेकस्य मुखस्य प्रतिबिम्बे सति एकदर्पणापनये तत्प्रतिबिम्बो बिम्बभावेनैवाऽवतिष्ठते, न तु मुखमात्र-रूपेण । तदानीमपि दर्पणान्तरसन्निधानप्रयुक्तस्य मुखे बिम्बत्वस्याऽनपायात् । तथा एकस्य ब्रह्मचैतन्यस्याऽनेकेषूपाधिषु प्रतिबिम्बे सति विद्योदयेनैकोपाधिलये तत्प्रति-बिम्बस्य बिम्बभावेनाऽवस्थानमुचितम्, न तु शुद्धरूपेण । तदानीमप्यविद्यान्तरस्य सत्त्वेनेश्वरे तत्प्रयुक्तबिम्बत्वस्याऽपह्नोतुमशक्यत्वादिति समाधानान्तरमाह—बिम्बेति अमुष्मिन् ईश्वर इत्यर्थः । नन्वेवं ज्ञानस्येश्वरभावापत्तिफलकत्वे तस्य दहराद्युपासना-विशेषप्रसङ्ग इति चेत्, न; ज्ञानस्याऽज्ञाननिवृत्त्यानन्दावाप्तिफलकत्वेन विशेष-सत्त्वादिति भावः ॥ १६ ॥

मुक्तस्य सर्वमुक्तिपर्यन्तमीश्वरभावापत्तिरपि बद्धपुरुषान्तरदृष्ट्या । वस्तुतस्तु

'बिम्बेश्वर०' इत्यादि । अविद्यामें अथवा अन्तःकरणमें जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह जीव है और जो बिम्बभूत है वह ईश्वर है, इस मतमें मुक्तकी, जबतक सबकी मुक्ति न हो तबतक परमेश्वरभावापत्ति इष्ट है । जैसे अनेक दर्पणोंमें एक मुखका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो, वहाँ एक दर्पणको हटा लेनेसे उस दर्पणका प्रतिबिम्ब बिम्बभावसे ही अवस्थित रहता है, न कि मुखमात्ररूपसे, क्योंकि उस समय भी दूसरे दर्पणोंका संनिधान होनेके कारण मुखमें बिम्बत्व तो ज्योंका त्यों है ही, वैसे ही एक ब्रह्मचैतन्यका अनेक उपाधियोंमें प्रतिबिम्ब होनेपर भी विद्योदयसे जब एक उपाधिका लय होगा तब उस प्रतिबिम्बका बिम्बभावसे अवस्थान उचित है, शुद्धरूपसे नहीं, क्योंकि उस समय भी अन्य अविद्याएँ तो हैं, अतः उन अविद्याओंसे होनेवाला बिम्बभाव ईश्वरमें बना ही रहता है अतः उसका निरास नहीं कर सकते । यदि ज्ञानका फल ईश्वरभावापत्ति मानें, तो उसमें दहरादि उपासनाविशेषका प्रसंग आवेगा, ऐसी शङ्का हो तो कहते हैं कि ज्ञानका तो अज्ञाननिवृत्ति और परमानन्दावाप्ति फल है; अतः उपासनाकी अपेक्षा ज्ञानमें विशेष होनेसे पूर्वोक्त शङ्का निरवकाश है ॥ १६ ॥

मुक्तमें सर्वमुक्तिपर्यन्त ईश्वरभावापत्ति भी अन्य बद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे कही

इत्थं परमशिवेन्द्रानुग्रहभाजनसदाशिवेन्द्रकृतौ ।
सिद्धान्तकल्पवल्ल्यां तुर्यः स्तबकश्च संपूर्णः ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपरमशिवेन्द्र-
पूज्यपादशिष्यश्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रविरचित-
वेदान्तसिद्धान्तकल्पवल्ल्यां
चतुर्थः स्तबकः समाप्तः ॥

अस्पृष्टेश्वरत्वादिधर्मनिर्मृष्टनिखिलभेदप्रपञ्चनित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वितीयाख - ण्डैकरसब्रह्मात्मनाऽवस्थानमिति परमसिद्धान्तमाह—परमार्थत इति ॥ १७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्परमशिवेन्द्रपूज्यपाद-
शिष्यश्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रप्रणीतश्रीवेदान्तसिद्धान्त-
कल्पवल्लीव्याख्यायां केसरवल्ल्याख्यायां
चतुर्थः स्तबकः ।

इति सिद्धान्तकल्पवल्ली समाप्ता ।

गई है, वास्तवमें तो ईश्वरत्वादि धर्मोंसे और निखिलभेदप्रपञ्चसे शून्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अद्वितीय और अखण्डैकरस जो ब्रह्म है, तद्रूपसे उसका अवस्थान ही परम सिद्धान्त है, ऐसा उपसंहाररूपसे ग्रन्थकी समाप्तिमें कह देते हैं—'परमार्थतस्तु' इत्यादिसे ।

परमार्थमें तो मुक्त जीव ईश्वरत्वादि सब धर्मोंसे निर्मुक्त और नाम आदि विकल्पोंसे रहित विमल केवल ब्रह्मरूपसे ही अवस्थित होता है ॥ १७ ॥

'इत्थम्' इत्यादि । इस प्रकार परमशिवेन्द्र गुरुके अनुग्रहपात्र सदाशिवेन्द्रकी कृतिरूप इस सिद्धान्तकल्पवल्लीमें चतुर्थ स्तबक और (चकारसे) ग्रन्थ भी सम्पूर्ण हुआ ॥ १८ ॥

महामहोपाध्याय पण्डितवर श्रीहाथीभाईशास्त्रि विरचित सिद्धान्तकल्पवल्ली-भाषानुवादमें चतुर्थ स्तबक समाप्त ।